कल्याण



वर्ष ४९
अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,७०,२५०)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०१, दिसम्बर १९७५

चित्र-सूची

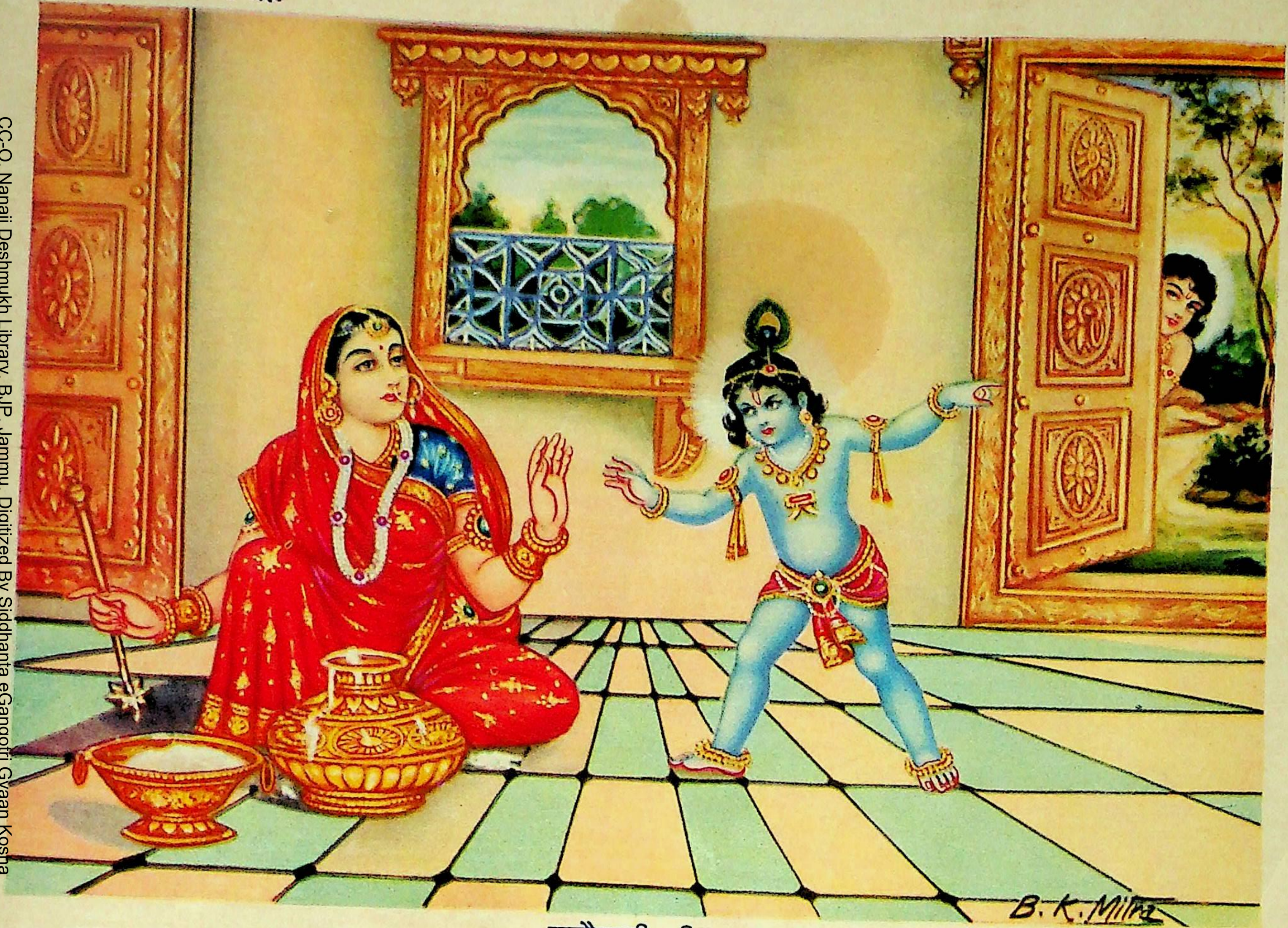
Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—स्वामी रामसुखदास

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण



कन्हैयाकी खीझ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



सीतारामपदाम्बुजे मधुपवद् यन्मानसं लीयते सीतारामगुणावली निशि दिवा यज्जिह्वया पीयते ।
सीतारामविचित्ररूपमनिशं यच्चक्षुषोर्भूषणं सीतारामसुनामधामनिरतं तं मारुतिं सम्भजे ॥

(श्रीरामायणरसायन)

वर्ष ४९ } गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०१, दिसम्बर १९७५ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ५८९

कन्हैयाकी खीझ

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ ?
कहा करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात ॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात ।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात ॥
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै ।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
'सूर' स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥

(सूरसागर [illegible])

कल्याण

इस दृश्यमान जगत्में जन्म-मरणका खेल अविराम चल रहा है। इस प्रकृतिके जादूघरमें कुछ भी स्थिर या नित्य नहीं है। संहारको हृदयसे लगाये हुए ही सृष्टिका उदय होता है। आज जो सुन्दर है, मनोहर है, सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है, सरल बालकेलिसे सबको प्रमुदित कर रहा है, वही कुछ दिनोंमें यौवन, जरा और व्याधिकी घाटियोंको लाँघता हुआ आसन्नमृत्यु होकर—अत्यन्त कुरूप, भीषण, मलिन, बीभत्स, दुर्गन्धयुक्त और महान् दुःख-दोषमय बनकर सबके लिये कष्टप्रद हो जाता है और अन्तमें आत्मायुक्त सूक्ष्म-शरीरसे वियुक्त होकर तो वह सर्वथा घृणित, हेय, अस्पृश्य हो जाता है एवं हम उसे श्मशानमें ले जाकर फूँक डालते हैं या भीषण सुनसान स्थानमें जमीन खोदकर गाड़ देते हैं। यही तो परिणाम है इस शरीरका !

आज प्यारी पत्नी, प्राणप्रियतम पति, श्रद्धास्पद माता-पिता, अभिन्न-हृदय मित्र, प्राणोंके पुतले प्यारे पुत्र आदिको परस्पर पाकर सब अपनेको परम सुखी समझते हैं, सबके प्राण हँसते हैं; परंतु दूसरे ही दिन मृत्युके भयानक आघातसे हमारे ये प्राण-प्यारे आत्मीय हमसे बिछुड़ जाते हैं, हमारा प्यारका भण्डार लूट लिया जाता है। हम 'हाय-हाय' करते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं; पर कुछ भी नहीं कर पाते। यही हाल संसारकी सभी वस्तुओंका है।

वास्तवमें यह अपनत्व, यह ममता ही हमारे दुःखोंमें हेतु है। जिसे पाकर मनुष्य हँसता है, उसे खोकर उससे कई गुना अधिक रोना ही पड़ता है। यहाँका यह पाना होता ही है खोनेके लिये, जन्म होता ही है मृत्युके लिये, संयोग उत्पन्न ही होता है वियोगके निश्चित विधानको साथ लेकर। हम कुछ दिन रोते हैं, दुःखी होते हैं, फिर उसी भाँति हम भी इस चोलेको विवशतः छोड़कर नयेके लिये चल पड़ते हैं। चोला पुराना होनेपर भी मोहवश इसे छोड़ते समय हम घबराते हैं, ममत्वके कारण किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी विनाशकी आशङ्का हमें व्याकुल कर देती है; परंतु विनाश तो अवश्यम्भावी है। नवीन सृष्टिके लिये उसकी आवश्यकता है। वह होता ही है और होता ही रहेगा। कबतक ? यह कौन कह सकता है; परंतु इतना तो कहा जा सकता है कि यह जन्म-मरणयुक्त जगत् चाहे सदा रहे, परंतु इसमें हमारा जो विषयोंके साथ ममत्वका सम्बन्ध है, वह तो सदा कभी नहीं रहेगा। आज हम अपने इस शरीरमें माता, पिता, स्त्री, स्वामी, पुत्र-कन्या आदिसे प्रेम करते हैं, उनके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते, उनका थोड़ा-सा भी अदर्शन हमें असह्य हो जाता है, पर जब हम उन्हें छोड़ जाते हैं और दूसरे चोलेमें पहुँच जाते हैं, तब उनका स्मरण भी नहीं करते। न मालूम कितनी बार कितनी योनियोंमें हमारे प्रिय माता, पिता, स्त्री, पुत्र, यश, कीर्ति, घर, जमीन हो चुके हैं, परंतु आज हमें उनका स्मरणतक नहीं है।

ऐसे विनाशी क्षणस्थायी सम्बन्धको यथार्थ सम्बन्ध समझकर सुखी-दुःखी होना मूर्खता नहीं तो क्या है ? ऐसे सम्बन्धको लेकर ममत्व करना और फिर रोना-पीटना धोखा ही तो है। इसमें जो नित्य है, सत्य है, जिससे कभी विछोह नहीं होता, जो सदा साथ ही रहता है और रहेगा, उसीसे प्रेम करना चाहिये। वे हैं श्रीकृष्ण। उन्हींके अनेकों नाम हैं। हैं वे एक ही। वे ही हमारी सब अवस्थाओंके और सब समयके मित्र हैं। वे नित्य सुन्दर हैं, मधुर हैं। वे हमारे सदाके सङ्गी हैं, प्राणोंके प्राण हैं, आत्माके आत्मा हैं। उन श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य जिस किसीसे भी प्रेम करोगे, उसीमें धोखा होगा; जिसको चाहोगे, वही दगा देगा।

जीवन-मृत्यु उनका—श्रीकृष्णका खेल है। सबमें सब समय सब ओरसे उन्हींको देखो, पकड़ लो। तभी जीवन सार्थक होगा, तभी सुखके, सच्चे सुखके—परमानन्दके यथार्थ दर्शन होंगे।

'श्रीभाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[मांस-भक्षण-निषेध]

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः॥

(महा० अनु० ११५ । ४८)

'जो पुरुष अपने लिये आत्यन्तिक शान्ति लाभ करना चाहता है, उसको जगत्‌में किसी भी प्राणीका मांस किसी भी निमित्त नहीं खाना चाहिये।'

यद्यपि जगत्‌में बहुत-से लोग मांस खाते हैं, परंतु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि मांस-भक्षण सर्वथा हानिप्रद है। इससे लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। बहुत-से लोग तो ऐसे हैं, जो मांस-भक्षणको हानिकर समझते हुए भी बुरी आदतके वशमें होनेके कारण इसे नहीं छोड़ सकते। कुछ ऐसे हैं, जो आराम और भोगासक्तिके वशमें हुए मांस-भक्षणका समर्थन करते हैं; परंतु उन लोगोंको भी विवेकी पुरुषोंके समुदायमें नीचा देखना पड़ता है। पाठक इस लेखको मननपूर्वक पढ़ें और उनमें जो मांस खाते हों, वे कृपापूर्वक मांस खाना छोड़ दें। मांस-भक्षणसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका पार नहीं है। उनमेंसे यहाँ संक्षेपमें कुछ बतलाये जाते हैं—

१—मांस-भक्षण भगवत्प्राप्तिमें बाधक है।
२—मांस-भक्षणसे ईश्वरकी अप्रसन्नता प्राप्त होती है।
३—मांस-भक्षण महापाप है।
४—मांस-भक्षणसे परलोकमें दुःख प्राप्त होता है।
५—मांस-भक्षण मनुष्यके लिये प्रकृति-विरुद्ध है।
६—मांस-भक्षणसे मनुष्य पशुत्वको प्राप्त होता है।
७—मांस-भक्षण मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है।
८—मांस-भक्षण घोर निर्दयता है।
९—मांस-भक्षणसे स्वास्थ्यका नाश होता है।
१०—मांस-भक्षण शास्त्रनिन्दित है।

अब उपर्युक्त दस विषयोंपर संक्षेपसे पृथक्-पृथक् विचार करें—

(१) सम्पूर्ण रूपसे अभयपदकी प्राप्तिको ही मुक्ति—परमपद-प्राप्ति या भगवत्प्राप्ति कहते हैं। इस अभयपदकी प्राप्ति उसीको होती है, जो दूसरोंको अभय देता है। जो अपने उदरपोषण अथवा जीभके स्वादके लिये कठोरहृदय होकर प्राणियोंकी हिंसा करता-कराता है, वह प्राणियोंको भय देनेवाला और उनका अनिष्ट करनेवाला मनुष्य अभयपदको कैसे प्राप्त हो सकता है! श्रीभगवान्‌ने निराकार-उपासनामें लगे हुए साधकके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५) और भक्तके लिये **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२। १३) कहकर सर्वभूतहित और प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दयाका विधान किया है। भूत-हित और भूत-दयाके बिना परमपदकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है, अतएव आत्माके उद्धारकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका कर्तव्य है कि वह किसी भी जीवको किसी समय, किसी प्रकार, किंचिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचाये। भगवत्प्राप्तिकी तो बात ही दूर है, मांस खानेवालेको तो स्वर्गकी भी प्राप्ति नहीं होती। मनु महाराज कहते हैं—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

(मनुस्मृति ५। ४८)

'प्राणियोंकी हिंसा किये बिना मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणिवध करनेसे स्वर्ग नहीं मिलता, अतएव मांसका त्याग करना चाहिये।'

(२) समस्त चराचर जगत्‌के रचयिता परमपिता परमात्माकी दृष्टिमें सभी जीव समान हैं, या यों कहना

चाहिये कि उनके द्वारा रचित होनेके कारण सब उन्हींकी संतान हैं, इस रहस्यको जाननेवाले ईश्वर-भक्तके लिये परमपिता परमात्माकी संतान—अपने बन्धुरूप किसी भी प्राणीको मारना तो दूर रहा, किसीको किंचित् कष्ट पहुँचाना भी सम्भव नहीं है। जो लोग इस बातको न समझकर स्वार्थवश दूसरे जीवोंकी हिंसा करते हैं और ऐसा करते हुए ही अपने ऊपर ईश्वरकी दया चाहते हैं तथा ईश्वर-प्राप्तिकी कामना करते हैं, वे बड़े भ्रममें हैं। प्राणिवध करनेवाले क्रूरकर्मा मनुष्योंपर ईश्वर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं? किसी पिताका एक पुत्र लोभवश अपने दूसरे निर्दोष भाइयोंको सताकर या मारकर जैसे पिताका कोपभाजन होता है, वैसे ही प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले लोग ईश्वरकी अप्रसन्नता और कोपके पात्र होते हैं।

(३) धर्ममें सबसे पहला स्थान अहिंसाको दिया गया है। अन्य सब तो धर्मके अङ्ग हैं, परंतु अहिंसा तो परमधर्म है—

'अहिंसा परमो धर्मः।'

(महा० अनु० ११५। २३)

धर्मका तात्पर्य अहिंसामें है। धर्मको माननेवाले सभी लोग अहिंसा और त्यागकी प्रशंसा करते हैं। जो धर्म मनुष्यकी वृत्तियोंको अहिंसा, त्याग, निवृत्ति और संयमकी ओर ले जाता है, वही यथार्थ धर्म है। जिस धर्ममें इन बातोंकी कमी है, वह अधूरा है। मांस-भक्षण करनेवाले अहिंसा-धर्मका हनन करते हैं, धर्मका हनन ही पाप है। कोई यह कहे कि हम स्वयं जानवरोंको न तो मारते हैं और न मरवाते हैं, हम तो केवल दूसरोंके द्वारा मारे हुए पशु-पक्षियोंका मांस खरीदकर खाते हैं, इसलिये हम प्राणिहिंसाके पापी क्यों माने जायँ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि प्राणिहिंसा मांसाहारियोंके लिये ही की जाती है। कसाईखाने मांस खानेवालोंके लिये ही बने हैं। यदि मांसाहारी लोग मांस खाना छोड़ दें तो प्राणिवध कोई किस लिये करे? फिर यह भी समझनेकी बात है कि केवल अपने हाथों किसीको मारनेका नाम ही हिंसा नहीं है। महर्षि पतञ्जलिने हिंसाके मुख्यतया सत्ताईस भेद बतलाये हैं। यथा—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (योगसू० २। ३४)

"स्वयं हिंसा करना, दूसरेसे करवाना और हिंसाका समर्थन करना—यह तीन प्रकारकी हिंसा है। यही लोभ, क्रोध और अज्ञानके हेतुओंसे होनेके कारण (३×३=९) नौ प्रकारकी तथा मृदु, मध्य और अधिमात्रासे होनेके कारण (९×३=२७) सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। इसी प्रकार मिथ्याभाषण आदिका भी भेद समझ लेना चाहिये। ये हिंसादि सभी दोष दुःख एवं अज्ञानरूप अनन्त फलको देनेवाले हैं—ऐसा विचार करना ही 'प्रतिपक्ष-भावना' है।" यही सत्ताईस प्रकारकी हिंसा शरीर, वाणी और मनसे होनेके कारण इक्यासी भेदोंवाली बन जाती है। इसलिये स्वयं न मारकर दूसरोंके द्वारा मारे हुए पशुओंका मांस खानेवाला भी वास्तवमें प्राणिहिंसक ही है। मनु महाराज कहते हैं—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

(मनुस्मृति ९। ५१)

'सलाह या आज्ञा देनेवाला, अङ्ग काटनेवाला, मारनेवाला, मांस खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये सभी घातक कहलाते हैं।'

महाभारतमें भी कहा गया है—

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः॥
आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते॥

(अनुशासनपर्व ११५। ३८, ४५)

'मांस खरीदनेवाला धनसे प्राणीकी हिंसा करता है, खानेवाला उपभोगसे और मारनेवाला मारकर एवं बाँधकर हिंसा करता है, इस प्रकार तीन तरहसे वध होता है। जो मनुष्य मांस लाता है, जो मँगवाता है, जो पशुके अङ्ग काटता है, जो खरीदता है, जो बेचता है, जो पकाता है और जो खाता है, वे सभी मांस खानेवाले (घातकी) हैं।'

अतएव मांस-भक्षण धर्मका हनन करनेवाला होनेके कारण सर्वथा महापाप है। धर्मका पालन करनेवालोंके लिये हिंसाका त्याग पहली सीढ़ी है। जिसके हृदयमें अहिंसाका भाव नहीं है, वहाँ धर्मको स्थान ही कहाँ है?

(४) पितामह भीष्म राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मां स भक्षयते यस्माद्भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत॥
(महा० अनु० ११६ । २५)

"हे युधिष्ठिर! वह मुझे खाता है, इसलिये मैं भी उसे खाऊँगा—यह 'मांस' शब्दका मांसत्व है, ऐसा समझो।"

इसी प्रकारकी बात महाराज मनुने भी कही है—

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
(मनुस्मृति ५ । ५५)

"मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ, वह परलोकमें मुझे (मेरा मांस) खायेगा। 'मांस' शब्दका यह अर्थ विद्वान्‌लोग कहा करते हैं।"

आज यहाँ जो जिस जीवका मांस खायगा, किसी समय वही जीव उसका बदला लेनेके लिये उसका मांस खानेवाला बनेगा। जो मनुष्य जिसे जितना कष्ट पहुँचाता है, समयान्तरमें उसे अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप वह कष्ट और भी अधिक मात्रामें (मय व्याजके) भोगना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी युक्तिसंगत बात है कि जैसे हमें दूसरेके द्वारा सताये और मारे जाते समय कष्ट होता है, वैसा ही सबको होता है। परपीड़ा महापातक है, पापका फल सुख कैसे होगा? इसीलिये भीष्मपितामह कहते हैं—

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः॥
(महा० अनु० ११६ । ३१)

'मांसाहारी जीव अनेक योनियोंमें उत्पन्न होते हुए अन्तमें कुम्भीपाक नरकमें यन्त्रणा भोगते हैं। दूसरे भी उन्हें बलात्कारसे दबाकर मार डालते हैं और इस प्रकार वे बारंबार नाना योनियोंमें भटकते रहते हैं।'

(५) भगवान्‌ने सृष्टिमें जिस प्रकारके जीव बनाये हैं, उनके लिये उसी प्रकारके आहारकी रचना की है। मांसाहारी सिंह, कुत्ते, भेड़िये आदिकी आकृति और उनके दाँत, जबड़े, पंजे, नख और हड्डीकी तुलना करके देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यका खाद्य अन्न, दूध, फल और शाक आदि ही है। जल-चिकित्साके प्रसिद्ध आविष्कारक लुईकूने महोदयने भी कहा है कि 'मनुष्य मांस-भक्षी प्राणी नहीं है। वह तो मांस-भक्षण करके मानव-प्रकृतिके विरुद्ध कार्य कर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको बुलाता है।' मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही सौम्य है। सौम्य प्रकृतिवाले जीवोंके लिये अन्न, दूध, फल, शाक आदि सौम्य पदार्थ ही स्वाभाविक भोज्य पदार्थ हैं। गौ, बकरी, कबूतर आदि सौम्य प्रकृतिके पशु-पक्षी भी मांस न खाकर घास, चारा, अन्न आदि ही खाते हैं। मांसाहारी पशु-पक्षियोंकी आकृति सहज ही क्रूर और भयानक होती है। शेर, बाघ, बिल्ली, कुत्ते आदिको देखते ही इस बातका पता लग सकता है। महाभारतमें कहा गया है—

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव ॥
अपूपान् विविधाकाराञ्शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम्॥
(अनुशासनपर्व ११६ । १-२)

'शोक है कि जगत्में क्रूर मनुष्य नाना प्रकारके पवित्र खाद्य पदार्थोंको छोड़कर राक्षसकी भाँति मांसके लिये लालायित रहते हैं तथा भाँति-भाँतिकी मिठाइयों, तरह-तरहके शाकों, खाँडकी बनी हुई वस्तुओं और सरस पदार्थोंको भी वैसा पसंद नहीं करते, जैसा मांसको ।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि मांस मनुष्यका आहार कथमपि नहीं है ।

(६) भोजनसे ही मन बनता है, **'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन'** कहावत प्रसिद्ध है । मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है, उन्हीं-जैसे गुण, आचरण आदि उसमें उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी आकृति क्रमशः वैसी ही बनती जाती है । इससे वह इसी जन्ममें मनुष्योचित स्वभावसे प्रायः च्युत होकर पशु-स्वभावापन्न, क्रूर और अमर्यादित जीवनवाला बन जाता है और मरनेपर वैसी ही भावनाके फल स्वरूप तथा अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये उन्हीं पशु-पक्षियोंकी योनियोंको प्राप्त होकर महान् दुःख भोगता है ।

इससे सिद्ध है कि मांसाहारी मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है, वैसा ही पशु-पक्षी आगे चलकर स्वयं बन जाता है ।

(७) जब हम किसी जीवके प्राणोंका संयोग करनेकी शक्ति नहीं रखते, तब हमें उनके प्राण-हरण करनेका वस्तुतः कोई अधिकार नहीं है । यदि करते हैं तो वह महान् अत्याचार और पाप है । मांसाहारी ऊपर लिखे अनुसार स्वयं प्राणिवध न करनेवाला हो तो भी प्राणिवधका दोषी है ही; क्योंकि प्रकारान्तरसे वही तो प्राणि-हिंसामें कारण है ।

(८) मांसाहारी मनुष्य निर्दय हो ही जाता है और जिसमें दया नहीं है, उसके अधर्मी होनेमें क्या संदेह है ? मांस-भक्षी मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि 'मांस खाकर मैं कितना बड़ा निर्दयतापूर्ण कार्य कर रहा हूँ । मेरी तो थोड़ी देरके लिये केवल क्षुधाकी निवृत्ति होती है, परंतु बेचारे पशु-पक्षियोंके प्राण तो सदाके लिये चले जाते हैं ।' प्राणनाशके समान कौन-सा भयंकर दुःख है । संसारमें सभी प्राणी प्राणनाशसे डरते हैं—

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायति वेपथुः ॥
(महा० अनु० ११६ । १७)

'हे भारत ! मरण सभी जीवोंके लिये अनिष्ट है, मरणके समय सभी प्राणी सहसा काँप उठते हैं ।'

जिस मनुष्यके हृदयमें दया होती है, वह तो दूसरेके दुःखको देख-सुनकर ही काँप उठता है और उसके दुःखको दूर करनेमें लग जाता है; परंतु जो क्रूर-हृदय मनुष्य पापी पेटको भरने और जीभको स्वाद चखानेके लिये प्राणियोंका वध करते हैं, वे तो स्वाभाविक ही निर्दयी हैं । निर्दयी मनुष्य भगवान्से या अन्यान्य जीवोंसे कभी दयाकी माँग नहीं कर सकता ।

दयालु पुरुष ही संकटके समय ईश्वरकी तथा अन्यान्य जीवोंकी दयाका पात्र होता है । बड़े ही खेदका विषय है कि मनुष्य स्वयं तो किसीके द्वारा थोड़ा-सा भी कष्ट पानेपर घबरा उठते हैं और चिल्लाने लगते हैं; परंतु निर्दोष मूक जीवोंको इन्द्रिय-लोलुपता, बुरी आदत और प्रमादवश मार या मरवाकर खानेतक-में नहीं हिचकते ।

मनुष्य सबमें बुद्धिमान् और स्वभावसे ही सबका उपकारी जीव माना गया है। यदि वह अपने स्वभावको भुलाकर निर्दयताके साथ पशु-पक्षियोंकी हिंसामें इसी प्रकार उतारू रहेगा तो बेचारे पशु-पक्षियोंका संसारमें निर्वाह ही कठिन हो जायगा, अतएव मनुष्यको दयालु बनना चाहिये।

नहि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद्दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथापरे॥
(महा० अनु० ११६। ८)

'इस संसारमें प्राणोंसे बढ़कर कोई अन्य प्रिय वस्तु नहीं है, अतएव मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया करता है, उसी प्रकार दूसरोंपर भी करे।'

(९) मांसाहार स्वाभाविक ही स्वास्थ्यका नाशक है, इस बातको तो अब अनेकों पाश्चात्य विद्वान् और डॉक्टर लोग मानने लगे हैं। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जिन पशु-पक्षियोंका मांस मनुष्य खाता है, उनके रोगके परमाणु मांसके साथ ही मनुष्यके शरीरमें प्रवेश कर उसे भी रोगी बना डालते हैं। इंग्लैंडके एक प्रसिद्ध डॉक्टरने लिखा था— 'इंग्लैंडमें कैन्सरके रोगी दिनों-दिन बढ़ते जा रहे हैं। एक इंग्लैंडमें ही इस भयानक रोगसे कई हजार मनुष्य प्रतिवर्ष मरते हैं। मांसाहार भी इस रोगका एक मुख्य कारण है। यदि मांसाहार इसी तेजीसे बढ़ता रहा तो इस बातका भय है कि भविष्यकी संततिमेंसे कई करोड़ मनुष्य इस रोगके शिकार होंगे।'

मांस बहुत देरसे पचता है, इससे मांसाहारी मनुष्य प्रायः पेटकी बीमारियोंसे पीड़ित रहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकारके रोग मांसाहारसे होते हैं। शास्त्रमें भी कहा है कि मांसाहारियोंकी आयु घट जाती है—

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद्विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥
(महा० अनु० ११५। ३१)

'हिंसा-जनित पाप हिंसा करनेवालोंकी आयुको नष्ट कर देता है, अतएव अपना कल्याण चाहनेवालोंको मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।'

(१०) यद्यपि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं मांसका वर्णन आता है; परंतु उनमें मांस-त्यागके सम्बन्धमें बहुत ही जोरदार वाक्य हैं। प्रायः सभी शास्त्रोंमें मांस-भक्षणकी निन्दा करके मांस-त्यागको अत्युत्तम बतलाया गया है। ऐसे हजारों वचन हैं, उनमें कुछ थोड़े-से यहाँ दिये जाते हैं—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥
(मनु० ५। ४५, ४९)

'जो निरपराध जीवोंकी अपने सुखकी इच्छासे हिंसा करता है, वह जीते-जी अथवा मरनेके बाद भी (इहलोक अथवा परलोकमें) कहीं सुख नहीं पाता। मांसकी उत्पत्तिका विचार करते हुए प्राणियोंकी हिंसा और बन्धनादिके दुःखको देखकर मनुष्यको सब प्रकारसे मांस-भक्षणका त्याग कर देना चाहिये।'

सर्वेषामेव मांसानां महान् दोषस्तु भक्षणे।
निवर्तने महत्पुण्यमिति प्राह प्रजापतिः॥

'प्रजापतिका कथन है कि सभी प्रकारके मांसोंके भक्षणमें महान् दोष है और उससे बचनेमें महान् पुण्य है।'

महाभारतमें भी कहा गया है—

लोभाद्वा बुद्धिमोहाद्वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम्॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते॥
इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः॥
(अनुशासनपर्व ११५ । ३३-३४, ४३)

'लोभसे बुद्धिके मोहित हो जानेसे अथवा पापियोंका संसर्ग करनेसे बल और पराक्रमकी प्राप्तिके लिये मनुष्योंकी (हिंसारूप) अधर्ममें रुचि होती है। जो मनुष्य अपने मांसको दूसरेके मांससे बढ़ाना चाहता है, वह जिस किसी योनिमें जन्म ग्रहण करता है, वहाँ दुःखी होकर ही रहता है। जो अज्ञानी और अधम पुरुष देवपूजा, यज्ञ तथा वेदोक्त मार्गका आश्रय लेकर मांसके लोभसे जीवोंकी हिंसा करता है, वह नरकोंको प्राप्त होता है।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः॥
शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते॥
(महा० अनु० ११६ । ७, ९)

'जो मनुष्य दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर कोई नीच नहीं है; वह अत्यन्त निर्दयी है। हे तात! वीर्यसे मांसकी उत्पत्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है (इसलिये यह बहुत घृणित पदार्थ है)। इसके भक्षणमें महान् दोष और त्यागसे पुण्य होता है।'

मांस न खानेका फल—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥
(मनुस्मृति ५ । ५३)

'जो सौ वर्षोंतक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो किसी प्रकारका मांस नहीं खाता, उन दोनोंको समान पुण्य होता है।'

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा॥
अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः॥
(महा० अनु० ११५ । २८, ४०-४१)

'मांस न खानेवाला और प्राणियोंपर दया करनेवाला मनुष्य समस्त जीवोंका आश्रयस्थान एवं विश्वासपात्र बन जाता है; उससे संसारमें किसीको उद्वेग नहीं होता और न उसे ही किसीसे उद्वेग प्राप्त होता है। उसका कोई भी तिरस्कार नहीं कर सकता, वह दीर्घायु होता है और सदा नीरोग रहता है। मांसके न खानेसे जो पुण्य होता है, उसके समान पुण्य न तो सुवर्णदानसे होता है, न गोदान और न भूमिदानसे ही—ऐसा सुननेमें आया है।'

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि मांस-भक्षण सभी प्रकारसे त्यागने योग्य है। मेरा नम्र निवेदन है कि जो भाई प्रमादवश मांस खाते हैं, वे इसपर भली-भाँति विचार कर मनुष्यत्वके नाते, दया और न्यायके नाते, शरीर-स्वास्थ्य और धर्मकी रक्षाके लिये तथा भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये इन्द्रिय-संयम कर मांस-भक्षण सर्वथा छोड़ दें और सब जीवोंको अभयदान देकर स्वयं अभयपद प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करें। जो भाई मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर मांस-भक्षणका त्याग कर देंगे, उनका मैं आभारी रहूँगा और अपनेपर उनकी बड़ी दया समझूँगा। (संकलित)

व्यक्ति और समाज

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

प्राकृतिक नियमानुसार व्यक्ति और समाजमें एकता है । व्यक्ति समाजके अधिकारोंका पुञ्ज और समाज व्यक्तिका कार्यक्षेत्र है । जिस प्रकार शरीर और विश्वमें विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार व्यक्ति और समाज भी विभक्त नहीं किये जा सकते। सुन्दर व्यक्तियोंसे सुन्दर समाज और सुन्दर समाजसे ही सुन्दर व्यक्तियोंका निर्माण होता है । यद्यपि वातावरणका भी व्यक्तिपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, परंतु सुन्दर व्यक्तिके द्वारा वातावरणमें भी सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति होती है । जिस प्रकार भूमि, जल, वायु आदिसे प्रत्येक बीज अपने स्वभावानुसार ही विकास पाता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने स्वभावानुसार ही समाजसे पोषित होता है । इस दृष्टिसे व्यक्ति और समाजमें पारस्परिक एकता है । इस कारण व्यक्तियोंके निर्माणमें ही समाजका निर्माण निहित है ।

प्राकृतिक विधानके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनेको सुन्दर बनानेमें स्वाधीन है । व्यक्तिकी जो माँग है, उसीके अनुरूप उसका जीवन और जीवनके अनुसार ही समाजका निर्माण हो जाता है । ज्यों-ज्यों सौन्दर्यकी माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असुन्दरता नष्ट होती जाती है । असुन्दरताके नाशमें ही सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति होती है । इस दृष्टिसे सौन्दर्यकी माँगमें ही सुन्दरता निहित है ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि व्यक्तिका सौन्दर्य क्या है ? जिस व्यक्तिके द्वारा समाजके अधिकार अपहृत नहीं होते और जो स्वयं अधिकार-लालसासे रहित है, वही 'सुन्दर' है । अब विचार यह करना है कि व्यक्ति समाजके अधिकारोंका अपहरण क्यों करता है ? व्यक्ति समाजको अपनेसे भिन्न मानने-पर समाजके अधिकारोंका अपहरण कर अपनेको सबल बनानेका प्रयास करता है । प्राकृतिक नियमके अनुसार दूसरोंके अधिकारोंका अपहरण करनेपर व्यक्ति स्वयं निर्बल हो जाता है और फिर वह अपने कर्तव्य तथा दूसरोंके अधिकारको भूल जाता है । उसका परिणाम यह होता है कि न तो वह स्वयं ही सुन्दर हो पाता है और न उसके द्वारा सुन्दर समाजका निर्माण ही होता है ।

सुन्दर समाजके निर्माणका दायित्व मानवमात्रपर है, किसी वर्गविशेषपर नहीं । जब व्यक्ति कर्तव्यसे च्युत हो जाता है, तभी समाजमें भिन्न-भिन्न प्रकारके विप्लव मचते हैं । परिस्थितियोंकी उत्पत्ति प्राकृतिक विधानसे होती है, किंतु प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगका दायित्व मानवपर ही है । प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिसे उसके सदुपयोगमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । परिस्थिति सुखमयी हो अथवा दुःखमयी, कर्तव्यनिष्ठ प्राणी दोनोंका ही सदुपयोग कर अपनेको अथवा समाजको सुन्दर बनानेमें समर्थ होता है । इतना ही नहीं, कर्तव्यनिष्ठ मानवका जीवन विधान बन जाता है । उसके पीछे करोड़ों व्यक्ति चलनेका प्रयास करते हैं । इस दृष्टिसे व्यक्तिका जीवन समाजके लिये उपयोगी सिद्ध होता है ।

सामाजिक जीवनमें व्यक्तिका बड़ा ही ऊँचा स्थान है । एक-एक व्यक्तिके द्वारा समाजमें क्रान्ति हुई है, हो सकती है और होती रहेगी । अब विचार यह करना है कि व्यक्ति और समाजमें जो एकता है, वह कैसे सुरक्षित रह सकती है । उसके लिये व्यक्तियोंको प्राकृतिक नियमके अनुरूप एक नीति निर्धारित करनी होगी । वह नीति ही समाजका नेतृत्व करेगी; पर उस निर्धारित नीतिको जीवनद्वारा समाजके समक्ष रखना होगा । बल-

पूर्वक नीतिका पालन करानेसे वह हृदयंगम नहीं होती। इस प्रकार व्यक्ति और समाजके बीचमें एक गहरी खाई बन जाती है अर्थात् भेद उत्पन्न हो जाता है, उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। जानते हुए भी व्यक्ति मान नहीं पाता और मानते हुए भी कर नहीं पाता। यह परतन्त्रता भी मानवने जीवनमें अपने-आप उत्पन्न की है। अपना ह्रास अपने-आप किया है। प्राकृतिक नियमके अनुसार जबतक मानव समस्त विश्वके प्रति आत्मीयता स्वीकार न करेगा, तबतक उत्पन्न हुई निर्बलता नष्ट न होगी। जबतक प्राणी अपनेको व्यक्तित्व, कुटुम्ब, वर्ग, जाति और देशकी ममतामें आबद्ध रखता है, तबतक उसका जीवन विश्वके लिये उपयोगी सिद्ध नहीं होता। कारण, सीमित ममता अनेक आसक्तियों-को उत्पन्न कर बेचारे प्राणीको कर्तव्यसे च्युत कर देती है। उसीका दुष्परिणाम यह होता है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका, एक वर्ग दूसरे वर्गका और एक देश दूसरे देशका विनाश करनेमें अपना महत्त्व मानता है अथवा यों कहिये कि किसीकी निर्बलताको अपना बल मानकर अपना सर्वनाश कर लेता है।

किसीकी निर्बलताको अपना बल मानना अनीति है। प्राप्त बलको निर्बलोंकी धरोहर मानना, वस्तुतः सुन्दर नीति है। इस नीतिको अपनाते ही व्यक्ति, वर्ग, देश आदिके समस्त संघर्ष मिट जायँगे और एक अनुपम शान्ति एवं स्नेहकी स्थापना होगी।

इस सुन्दर नीतिका अनुसरण करनेके लिये व्यक्तिको सर्वप्रथम सर्वात्मभाव अपनाना पड़ेगा। सबके हितमें ही अपना हित निहित है, अन्यकी रक्षामें ही अपनी रक्षा है, दूसरोंका विकास ही अपना विकास है। इतना ही नहीं, दूसरोंकी अवनतिसे अपनी अवनति अवश्यम्भावी है। प्राकृतिक विधानके अनुसार यही कर्तव्य-विज्ञान है।

कौटुम्बिक जीवन सामाजिक जीवनका एक अल्प क्षेत्र है। इस अल्प क्षेत्रमें व्यक्ति क्रियात्मक प्रयोगोंद्वारा अपनेको कर्तव्यनिष्ठ बनानेमें समर्थ होता है। जिन नियमोंका पालन करनेसे एक कुटुम्बमें सौन्दर्य आता है, उन्हीं नियमोंका अनुसरण करनेपर विश्वमें सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति हो सकती है। कर्म सीमित होनेपर भी यदि कर्ताका भाव असीम है तो विश्वमें सद्भावनाओंका प्रसार हो जाता है। सद्भावनाएँ कर्मको सुन्दर और कर्मकी सुन्दरता सद्भावनाओंको सजीव बनानेमें समर्थ होती है। इस दृष्टिसे व्यक्तिका विकास कुटुम्बके विकासमें और कुटुम्बका विकास समाजके विकासमें साधनरूप हो जाता है।

जिस व्यक्तिद्वारा किसीका अनादर तथा तिरस्कार नहीं होता एवं जो दुःखियोंको देखकर करुणार्द्र तथा सुखियोंको देखकर प्रसन्न होता है, उसकी माँग समाज-को सदैव रहती है। इतना ही नहीं, उसका जीवन मानव-समाजके हृदयपर अविचल साम्राज्य स्थापित कर लेता है। इस प्रकार यह नीति चरितार्थ हो जाती है कि व्यक्ति-के विकासमें ही समाजका विकास निहित है। प्राकृतिक नियमके अनुसार तो सभी अपने हैं अथवा अपने प्राण भी अपने नहीं हैं, वे भी उसीके हैं, जिसकी सारी सृष्टि है। यदि कोई यह कहे कि सृष्टिका कोई मालिक है—इस मान्यतापर मेरा विश्वास नहीं है, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राण मेरे नहीं हैं, जगत्के हैं। जितनी प्रियता अपने प्राणोंमें है, उतनी प्रियता जगत्में रखना वास्तविक नीति है। जिसमें प्रियता होती है, उसका विनाश अभीष्ट नहीं होता; अपितु उसके विकासमें ही अभिरुचि होती है।

किसीको निन्दनीय माननेकी प्रतिक्रिया यह होती है कि माननेवालेमें उन दोषोंका जन्म हो जाता है, जिनसे उसका जीवन स्वयं निन्दनीय बन जाता है।

किसीको बुरा समझना किसी भी बुराईसे कम बुराई नहीं है, अपितु सभी बुराइयोंसे बड़ी और भयंकर बुराई है। किसीको बुरा न समझनेका अर्थ यह नहीं है कि आप उसे श्रद्धास्पद मान लें; उसका अर्थ केवल इतना ही है कि उसे सर्वांशमें दोषी न मानें और उसकी वर्तमान निर्दोषतापर अपनी दृष्टि रखें। उससे ऐसा व्यवहार करें कि वह स्वयं अपने दोषको भलीभाँति जान ले और उसे न दुहरानेके लिये वह स्वयं दृढ़तापूर्वक तत्पर हो जाय। नीति वही सार्थक है, जो दोषोंके नष्ट करने और निर्दोषताकी अभिव्यक्तिमें सहायक हो। समस्त दोषोंकी उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है, स्वभावसिद्ध नहीं। अविवेक निज विवेकका अनादर है, अन्य कुछ नहीं। निज विवेकका आदर करते ही अपने कर्तव्यका बोध व्यक्तिको स्वयं हो जाता है।

विवेकपूर्वक निर्णीत कर्तव्यके पालनकी सामर्थ्य मानवमें विद्यमान है। कारण, जिस मङ्गलमय विधानसे उसे विवेक मिला है, उसीसे कर्तव्यपालनकी सामर्थ्य भी मिली है। वास्तविक विधान कहते ही उसको हैं, जिसके पालनमें मानव सर्वदा स्वाधीन हो। व्यक्तिगत जीवनद्वारा कौटुम्बिक जीवनमें शान्ति तथा स्नेहका संचार करना तभी सम्भव होगा, जब परस्पर अपनी-अपनी भूल स्वीकार करनेमें कुटुम्बके किसी भी सदस्यको संकोच न हो और भूलको भूल स्वीकार कर लेनेपर उसे क्षमा कर दिया जाय अर्थात् उसे निर्दोष मान लिया जाय। किसीको दोषी ठहरानेका प्रयास न करके यह प्रयास किया जाय कि वह स्वयं अपने दोषको प्रकट करनेमें समर्थ हो जाय। अपनेद्वारा अपने दोषको जान लेनेपर दोषजनित वेदना स्वतः जाग्रत् होती है और वह दोषजनित सुखके रागको नष्ट कर देती है, जिसके नाश होनेपर पुनः दोषकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इस दृष्टिसे अपनी ओरसे किसीमें दोषका आरोप न करना ही निर्दोषताकी अभिव्यक्तिमें हेतु है; पर इस नीतिको वे ही मानव स्वीकार कर सकते हैं, जो अपने प्रति न्याय और दूसरोंके प्रति क्षमा करनेमें विश्वास रखते हैं। जो व्यक्ति अपने प्रति क्षमा और दूसरोंके प्रति न्याय करते हैं, वे अपनेमें उत्पन्न हुए दोषोंको पोषित करते हैं और दूसरोंमें भी दोषोंको जन्म देते हैं। इस अनीतिसे न तो व्यक्ति ही सुन्दर हो सकता है और न परिवार तथा समाज ही।

दोषरहित होनेके लिये अपने किये हुए दोषको स्वीकार करना अचूक उपाय है। अपनेको दोषी मानना और किये हुए दोषका त्याग कर निर्दोषताकी स्थापना न करना निर्दोष होनेका उपाय नहीं है। किये हुए दोषका त्याग करनेपर कोई अपनेको भले ही दोषी माने, उससे क्षुब्ध होना भूल है अथवा यों कहिये कि क्षुब्ध तथा क्रोधित होना नवीन दोषको जन्म देना है। भूतकालके दोषका त्याग और निर्दोषताकी स्थापना वर्तमानको सरस तथा भविष्यको उज्ज्वल बनानेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे नीति वही सफल होती है, जो वर्तमानकी नीरसताको खाकर भविष्यको उज्ज्वल बना सके। इस नीतिको वे ही मानव अपनायेंगे, जो दोषीको दुःख न देकर उसे निर्दोष बनानेमें आस्था रखते हैं। जो अपराधीको दण्ड देनेमें ही प्रसन्न होते हैं, वे अपनेको और अपराधीको दोषी बनाये रखनेमें सहयोग देते हैं; इस अनीतिका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

नीतिको क्रियात्मक रूप देना असीम नहीं हो सकता, किंतु नीतिके अनुरूप भाव असीम हो सकता है। सभीको आदर तथा प्यार देना भाव है, कर्म नहीं। आदर और प्यारकी भूख प्राणिमात्रको स्वाभाविक है। सभीको आदर तथा प्यार देनेमें मानवमात्र समर्थ हैं। कोई यह कहे कि यदि किसीमें वे दिव्य गुण हैं ही नहीं, जिनसे प्रेरित होकर आदर तथा प्यार किया जाय तो वह प्यार कैसे? इस समस्यापर विचार

करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि सर्वांशमें कभी भी कोई दोषी नहीं है और जब वर्तमान सभीका निर्दोष है तो क्या इस दृष्टिसे सभीको आदर तथा प्यार नहीं दिया जा सकता अर्थात् अवश्य दिया जा सकता है। प्राकृतिक नियमके अनुसार आदर तथा प्यारकी भूख उसी समयतक रहती है, जिस समयतक व्यक्ति सर्वांशमें निर्दोष नहीं है। जिनमें हमारी ममता नहीं है, उन प्राणियोंको जब आदर और प्यार दिया जाता है, तब वे आदर और प्यारजनित रसको पाकर दोषजनित सुखका त्याग करनेमें समर्थ होते हैं। इस दृष्टिसे प्राणि-मात्र आदर तथा प्यारका पात्र है। यदि कोई यह जानकर भी आदर तथा प्यार देनेमें अपनी असमर्थता अनुभव करता है तो उसे कम-से-कम किसीका अनादर तथा तिरस्कार न करनेवाली नीतिको तो स्वीकार कर ही लेना चाहिये। सर्वांशमें निर्दोषता आ जानेपर तो किसीसे आदर तथा प्यार पानेकी माँग ही नहीं रहती। कारण, निर्दोष जीवनसे तो सभीको सतत आदर तथा प्यार मिलता ही रहता है। इतना ही नहीं, उसमें तो देनेका अभिमान भी शेष नहीं रहता। जिससे सभीको सर्वदा सब कुछ मिल रहा है, उसे कोई क्या दे सकता है ? उसके जीवनका तो सभीको अनुसरण करना पड़ता है। इस दृष्टिसे आदर तथा प्यारके पात्र वे ही हैं, जिन्हें उसकी भूख है। भूख उन्हींको है, जो सर्वांशमें निर्दोष नहीं हैं।

जिस प्राणीको भूमि आश्रय देती है, जल प्यास बुझाता है, सूर्य प्रकाश देता है, वायु श्वास लेने देती है तथा आकाश अवकाश देता है, क्या वह मानवके आदर तथा प्यारका पात्र नहीं है ! अवश्य है। किसीका अनादर तथा तिरस्कार न करनेसे आदर तथा प्यार देनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। जिससे किसीका अहित नहीं होता, उसीका जीवन सर्वहितकारी सिद्ध होता है। जिस व्यक्तिसे किसीकी हानि नहीं होती, वही दूसरोंके लिये लाभप्रद सिद्ध होता है, यह मङ्गलमय विधान है।

व्यक्तिगत जीवन सुन्दर हो जानेपर पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन भी सुन्दर हो जाता है; क्योंकि व्यक्तिसे ही परिवार तथा समाज आशा रखता है। प्रत्येक व्यक्तिपर यह दायित्व है कि जिस कार्यके करनेमें उसकी सामर्थ्य तथा उसके विवेकका विरोध न हो और किसीके अधिकारका अपहरण न हो, उस कार्यको अवश्य पूरा कर दे। इस नीतिको अपना लेनेपर कर्तव्य-परायणता आ जाती है, जिसके आते ही अकर्तव्य स्वतः नष्ट हो जाता है। जिस कार्यको करनेमें सामर्थ्यका विरोध हो, किंतु विवेकका समर्थन हो, उस कार्यसे जिनका सम्बन्ध है, उनके प्रति सद्भावना रखना अनिवार्य है और करुणार्द्र होकर क्षमा माँगना आवश्यक है। जिस कार्यमें विवेकका विरोध हो, उस कार्यको तो किसी भी हेतुसे करना उचित नहीं है; क्योंकि विवेक-विरोधी कर्म ही अकर्तव्य है, जिसका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। कर्तव्यका मूल है—सर्वहितकारी भाव, जिसकी अभिव्यक्ति (अनेक भेद होनेपर भी) एकता स्वीकार करनेपर ही होती है। अतः सर्वात्मभावकी स्वीकृतिमें ही कर्तव्यपरायणता निहित है।

भौतिक दृष्टिसे समस्त विश्व एक जीवन है। अध्यात्मदृष्टिसे सब अपना ही स्वरूप है। आस्तिक-दृष्टिसे प्रेमास्पदसे भिन्न कुछ है ही नहीं। दार्शनिक भेद होनेपर भी जीवनमें कोई भेद नहीं है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनेको सुन्दर बनानेमें सर्वदा समर्थ है। जिसके जीवनसे दूसरोंके अहितकी भावना सर्वांशमें नष्ट हो गयी है, उसका जीवन सभीके लिये उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

कोई क्षण भगवत्स्मरणसे रहित न बीते

भगवान्ने गीतामें आज्ञा दी है—

'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' (८ । ७)

'सर्वकालमें मेरा स्मरण कर ।' यह जीवनमें उतारनेकी बात है । हमारा प्रत्येक क्षण भगवान्के स्मरणमें बीते । भगवान् कैसे हैं और क्या हैं, इसका निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं है । जिसके मनमें जैसे भगवान् हैं, चाहे वे निर्गुण-सगुण, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष हों, उनमें भी चाहे राम, कृष्ण, नारायण, दुर्गा, शिव—कोई रूप, कोई नाम हो, जिसका मन जहाँ लगे, जिसके लिये जो नाम-रूप रुचिकर हो, वह उसीका स्मरण करे । स्मरण भी नामका करे, लीलाका करे, स्वरूपका करे अथवा भगवान्के तत्त्वका करे, जिसका मन जहाँ लगता है, उसीका करे; परंतु भगवान्के साथ चित्त जुड़ा रहे, यह मुख्य बात है । इसका निश्चित फल है—भगवान्की प्राप्ति । इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है—

'मामेवैष्यस्यसंशयम्' (गीता ८ । ७)

ये भगवान्के प्रतिज्ञा-वचन हैं कि 'निस्संदेह वह मुझको ही प्राप्त होगा ।' जीवनमें निरन्तर याद रखनेकी बात यह है कि हमारे जीवनका कोई भी क्षण भगवान्के स्मरणसे रहित न बीते ।

जीभ निरन्तर भगन्नाम रटती रहे

जीभके द्वारा भगवान्के नामका जप करना—वह बहुत सरल, बड़ा सीधा साधन है । इसमें किसी प्रकारकी कोई ऐसी बात नहीं, जो आपत्तिजनक हो । केवल जीभसे अभ्यास डाल लेना है । भगवान्का जो भी नाम रुचे, उसीका जीभ निरन्तर रटन करती रहे । उससे यह होगा कि जितने भी पूर्वके मल—पाप संचित हैं, वे नष्ट हो जायँगे । यह बड़ी आवश्यक, जीवनमें उतारनेकी, करने-करानेकी बात कही जा रही है ।

भगवत्प्राप्ति होगी और इसी जन्ममें होगी

भगवान्के कृपा-बलपर भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें असंदिग्ध हो जाना एक महान् साधन है । भगवान्की प्राप्ति मुझे इसी जीवनमें भगवान्की कृपाके बलपर अवश्य होगी—इस प्रकारका मनमें निश्चय कर लें । यह निश्चय भगवत्प्राप्तिमें बड़ा सहायक है । अपनी असमर्थता, अपनी अयोग्यता, अपनी अनधिकारिता—ये सब होते हुए भी भगवान्की कृपामें जो बल है, वह इतना अपरिमित है, इतना असीम है, इतना प्रभावशाली है कि भगवान्की कृपाका आश्रय लेनेपर सारे दोष, सारे विघ्न, सारी अड़चनें अपने-आप टल जाती हैं । भगवान्ने घोषणा की है—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।'

(गीता १८ । ५८)

"मेरे प्रसादसे, मेरे अनुग्रहसे तुम सारे-के-सारे विघ्नोंको लाँघकर आगे बढ़ जाओगे । तुम विघ्नोंपर विजय प्राप्त कर लोगे ।बस, तुम केवल एक काम करो कि मेरी कृपापर अपने आपको छोड़ दो । 'मच्चित्त' बन जाओ ।" भगवान्की कृपाका भरोसा जगत्में सबसे बड़ा भरोसा है । इससे बढ़कर कोई शक्ति नहीं, इससे बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं, कुछ नहीं । तुलसीदासजी कहते हैं—"अपनेपर मुझे विश्वास नहीं । अपने साधनोंपर मुझे विश्वास नहीं । अपनी मन-इन्द्रियोंपर मुझे विश्वास नहीं । ये सब-के-सब प्रभुके विमुख हैं—**'सकल अंग पद-बिमुख नाथ'**—मेरे सारे अङ्ग आपके चरणोंके विमुख हैं । केवल एक जीभने, एक मुखने **'नाम की ओट लई है ।'** परंतु सबसे बड़ी वस्तु मेरे पास यह है—

'है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है ।'

(विनयप० १७० । ७)

यह मेरा अनन्य विश्वास है, एकान्त विश्वास है, एकनिष्ठ विश्वास है। मेरे प्रभु साकार हैं और ये कृपासे बने हुए हैं, जो कृपासे बने हैं, जो कृपामय हैं, वे कृपा करेंगे ही; मैं कैसा भी जीव क्यों न हूँ।''

उनकी जिसपर कृपा होगी, उसके लिये कौन-सी वस्तु शेष है। कौन-सी बाधा, कौन-सा विघ्न उसको भटका सकता है। सारी अड़चनें चूर-चूर हो जाती हैं भगवान्‌की कृपाशक्तिके सामने। अतः भगवान्‌की कृपाके बलपर इसी जीवनमें, इसी जन्ममें भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें निश्चय कर लें कि भगवान्‌की प्राप्ति होगी ही, अवश्य ही होगी।

सर्वत्र भगवान्‌को ही देखें

प्रत्येक प्राणीमें, संसारके प्रत्येक जीवमें भगवान् हैं अथवा भगवान् उन जीवोंके रूपमें प्रकट हैं; उनमें भगवान् हैं अथवा वे ही भगवान् हैं—दोनों ही बातें ठीक हैं। यह समझकर निरन्तर सबमें भगवद्बुद्धि रखना चाहिये। इस बातको जीवनमें उतार लें। इसको फिरसे दोहराता हूँ; क्योंकि यह बहुत कामकी वस्तु है—लड़का सामने आये, अपनी पत्नी सामने आये, नौकर सामने आये, भंगीसे काम पड़े, किसीसे भी काम पड़े, इस रूपमें उनके सामने पड़ते ही बस, तत्काल इस बातको याद कर लें कि ये मेरे इष्टदेव हैं, मन-ही-मन प्रणाम कर लें। प्रणाम करनेके बाद जो व्यवहार करना हो, उस व्यवहारके लिये उनसे आज्ञा माँग लें— 'प्रभो! आपका स्वाँग नौकर-का, मेरा स्वाँग मालिकका है; आपका स्वाँग पत्नीका, मेरा स्वाँग पतिका है; आपका स्वाँग बेटेका, मेरा स्वाँग पिताका है; इन स्वाँगोंके अनुसार आपकी आज्ञा माननेके लिये मैं व्यवहार करूँ। परंतु नाथ! मुझे यह शक्ति दें, बल दें, स्मृति दें, जिससे मैं इस बातको कभी भूलूँ नहीं कि इस रूपमें मेरे सामने साक्षात् आप हैं।' इसे कहनेमें कोई कठिनाई नहीं होती, परंतु यह अभ्यासमें आनी चाहिये; फिर आपको दिनभर भगवान्‌के दर्शन होंगे और दिनभर आप जो करेंगे, उसके द्वारा भगवान्‌का ही पूजन होगा—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

जितना भी यह संसार है, जगत्-प्रपञ्च है, चराचर भूत हैं—ये सब-के-सब निकले हैं भगवान्‌से और सबमें भगवान् भरे हैं। भगवान् सब जगह हैं, सब समय हैं और सबमें हैं—ऐसी अवस्थामें भगवान्‌का पूजन हम चाहे जहाँ, चाहे जब, चाहे जिस रूपमें कर सकते हैं। '**स्वकर्मणा**' अर्थात् अपने स्वाँगके अनुसार बरतना है, पर यह याद रखते हुए कि ये भगवान् हैं; यही स्वकर्मसे उनकी पूजा है। आप इस साधनको एक दिन करके देखें, घंटे भर ही करके देखें। जो सामने आये, तत्काल याद कर लें कि इस रूपमें नारायण आये हैं। सचमुच वे नारायण ही हैं; अतः आपको नारायणकी अनुभूति होने लगेगी, आपको नारायणका दर्शन होने लगेगा। इसे करके देख सकते हैं।

किसीके भी प्रति द्वेष न रखें

भगवान्‌ने कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (गीता १२। १३)

किसी भी प्राणीके साथ कभी भी किसी प्रकारसे भी मनमें द्वेष न रखे। द्वेष एक बहुत बड़ा पाप है। इतना ही नहीं, यह पापकी जड़ है। जिसका किसीसे द्वेष होगा, मनमें वैर होगा, उस मनुष्यकी दुर्गति होगी, यह निश्चित बात है। वैरवाले, द्वेषयुक्त पुरुष बड़े भीषण प्रेत हुआ करते हैं। वे पिशाच होते हैं और उनको नरकोंमें बड़ी बुरी यातनाएँ मिलती हैं। यह मनमें धारण कर लें कि हम किसीसे द्वेष लेकर नहीं मरेंगे। यदि

कहीं किसीमें द्वेषकी अथवा वैरकी भावना आ गयी तो मरनेसे पहले ही उसे मनसे निकाल देंगे। किसी प्राणीके प्रति भी हमारे मनमें द्वेष न हो। यह एक बड़ी आवश्यक बात है और खासकर जो गरीब हो, दुःखी हो, उसके प्रति करुणाभाव रखे। सबके साथ मैत्रीभाव रखे और जहाँ आवश्यक हो, वहाँ अत्यन्त करुणा करे, दया रखे।

निरन्तर सत्सङ्ग करे

निरन्तर अच्छे सङ्गमें रहनेकी चेष्टा करे। अच्छा सङ्ग केवल मनुष्यका ही नहीं, प्रत्येक अच्छी वस्तुका सङ्ग हो। बुरा स्थान, बुरा खान-पान, बुरा साहित्य, बुरे दृश्य, इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण होनेवाली सभी वस्तुएँ जो बुरी हों, उन्हें त्याग दे। जिन वस्तुओंसे भगवान्की रति बढ़े, वे शुभ और जिनसे विषयोंकी रति बढ़े, वे अशुभ हैं। यह शुभाशुभका सीधा-सा हिसाब है। इसी कसौटीपर कस कर कर्म करे। देखनेकी, सुननेकी, स्पर्श करनेकी, चखनेकी, बोलनेकी, जानेकी, मिलनेकी, व्यवहार करनेकी जो भी वस्तुएँ हों, जो भी जड-चेतन, प्राणी-पदार्थ हों, यदि उनके सङ्गसे भगवान्में रुचि होती है तो वे हमारे लिये परम शुभ हैं—

तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासौं होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥
(विनयप० १७४।४)

यदि बड़े-से-बड़ा दुःख भी भगवान् श्रीरामके चरणोंमें प्रेम करानेवाला हो तो वह भी हृदयसे स्वागत करनेकी वस्तु है। संसारका बड़े-से-बड़ा भोग भी यदि भगवान्से अलग करानेवाला हो तो वह भोग भी हमारे लिये किसी कामका नहीं, अपितु वह आग लगने योग्य है। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ॥

वह भोग जल जाने योग्य है; क्योंकि वह हमें भगवान्से छुड़ाकर भोगोंमें लगाता है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम है नरक। इसलिये सब पदार्थोंमें यह ख्याल रखे कि कोई थोड़ी-सी भी ऐसी वस्तु न आ जाय, जो भगवान्से हटानेवाली हो। आगकी चिनगारी भी यदि झोंपड़ेमें आ गिरी तो हवाका झोंका लगते ही प्रचण्ड आग बन जायगी, इसी तरह अशुभका थोड़ा-सा भी स्पर्श महान् भयकारक है। इसके विपरीत शुभका स्पर्श जितना भी हो, मङ्गलप्रद ही है। अतः सत्सङ्गमें रुचि रखनी चाहिये और असत्सङ्गमें अरुचि। नारदजीने कहा है—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'
(भक्तिसूत्र ३९)

'संतका मिलना बड़ा दुर्लभ है, उनको पहचानना और भी कठिन है, पर मिल जाय तो उनका सङ्ग अमोघ होता है।' 'बिनु हरि कृपा मिलै नहिं संता' भगवान्की बड़ी कृपा हो, तब किसी संतका मिलना होता है।

जिसके पास रहनेसे, जिसकी बात माननेसे, जिसके सङ्गसे भगवान्में अभिरुचि हो और दैवी सम्पत्ति बढ़ती हो, वह चाहे कैसा भी हो, तुम्हारे लिये संत है; परंतु जिसके सङ्गमें रहनेसे, जिसकी बात माननेसे आसुरी सम्पति बढ़ती हो, भगवान्के प्रति उपेक्षा हो, वह चाहे कितना ही बड़ा संत माना जाय, तुम्हारे लिये कदापि संत नहीं है।

मान-बड़ाई और कामिनी-कञ्चनसे बचें

कामिनी, कञ्चन और मान—इन तीनोंकी जहाँ माँग है, वहाँ सावधान हो जाना चाहिये। मान-दोष इतना दूषित नहीं है; क्योंकि यह सूक्ष्म है

और यह अच्छे पुरुषोंमें भी बड़ी दूरतक रहता है। पर ये कामिनी-कञ्चन तो बड़े दूषित और स्थूल दोष हैं। अतः ये दोष जिस संतमें हों, वह हमारे लिये संत नहीं, ऐसा मानना चाहिये। एक बात इसी प्रसङ्गमें यह भी कह देनेमें कोई अनुचित नहीं कि जो मनुष्य भगवान्‌के स्थानपर अपनी पूजा करवाना चाहे, वहाँ भी सावधान रहना चाहिये। यह एक बड़ा दोष है और आजकल यह बहुत अधिक बढ़ गया है। भगवान्‌का आसन व्यक्ति ले बैठता है और वह कहता है कि देखो, रामायणमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि भगवान्‌से बढ़कर भक्त है। भगवान् भक्तकी पूजा करते हैं। संत भगवान्‌से भी बढ़कर हैं। इस प्रकार शास्त्रीय उक्तियोंका अनुवाद करके वह कहता है कि मैं भक्त हूँ, संत हूँ, महापुरुष हूँ, भगवान्‌का प्रेमी हूँ, इसलिये भगवान्‌में जो कुछ है, वह तो मुझमें ही है।

ऐसी उक्तियाँ हैं और वे ठीक हैं। जैसे—'गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँव।' कोई कहता है कि भाई! गोविन्दसे भी बढ़कर गुरु हैं; क्योंकि उन्होंने गोविन्दको मिला दिया। इस तरह बहुत-सी शास्त्रकी वाणियाँ हैं और हैं भी यथार्थ; परंतु ऐसे गुरु हों, तब न? उनका दुरुपयोग करके मनुष्य भगवान्‌के स्थानपर अपनी पूजा करवाता है। यहाँ जीवनमें अपने लिये भी सावधानीकी आवश्यकता है। अतः इन तीन बातोंसे स्वयं भी बचे। कभी भी इनमें अनुराग न करे। कामिनी, कञ्चन और मान-बड़ाई—ये गृहस्थके लिये भी हानिकी वस्तुएँ हैं। यदि मनुष्य कञ्चनका लोभी है तो वह निश्चय ही गिरेगा। आजीविकाके लिये धन चाहिये और धनको शुद्ध कमाईसे कमाया जाय—यह दोषकी बात नहीं है; परंतु यदि कञ्चन और कामिनीमें आसक्ति है तो परधन और परस्त्रीमें लोभ-काम आसक्त हो सकता है और वह महापाप है। इसी प्रकार अपनी पूजा करवानेसे भी मनुष्यको बचना चाहिये। जहाँ-जहाँ मान-बड़ाई मिलती हो, वहाँ-वहाँसे हट जाना चाहिये।

मनुष्यके मनमें एक चाह रहती है कि मरनेके बाद मेरा नाम रहे, इतिहासमें मेरा नाम रहे। अरे, किसका नाम रहेगा? तुम तो आत्मा हो, इसका तो नाम है नहीं और शरीर एक दिन जला दिया जायगा। इसके नामको यदि तुम अपना नाम मानते हो, तब तो महान् अज्ञानी हो। अज्ञान और क्या होता है? अज्ञानका रूप क्या है? इस शरीरको मैं माने, इस नामको मैं माने, वही अज्ञानी है। अतः जो अपना स्टेचू (स्मारक) बनाना चाहे, अपनी ओटोबाइग्राफी (आत्मकथा) अपने-आप लिखकर अपनी प्रशंसा करना चाहे और इतिहासमें अपना नाम चाहे, वह अज्ञानी ही माना जायगा। नाम क्या है? आत्माका तो नाम होता नहीं। आत्माका रूप भी नहीं है। इस पाञ्चभौतिक पुतलेका नाम और इसकी पूजा तो जो भूत-पूजक हैं, वे करते हैं, आत्मपूजक तो करता नहीं। यह अज्ञानका स्वरूप है। इसलिये इससे बचना चाहिये। मान-बड़ाईसे भी दूर रहना चाहिये। यह बड़ी मीठी छुरी है, सदा घात करती है। अंदर-ही-अंदर काटती है। सारे सत्कर्मोंको, पुण्योंको यह धो डालती है। इससे मनुष्य अपना पुण्य खो देता है। इसलिये मान-बड़ाई और कामिनी-कञ्चनसे सदा हटकर रहना चाहिये।

मानव-जीवन केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है

अन्तिम बात यह है कि मानव-जीवन बार-बार नहीं मिलता। यह भगवान्‌की बड़ी कृपासे मिल गया है। इसको हम खो न दें। इससे बड़ा घाटा दूसरा कोई है नहीं। सारे घाटे न जाने कितनी योनियोंमें कितनी बार पूर्ण हो चुके हैं; परंतु यह घाटा यदि रह गया तो 'महती विनष्टिः' है। इतना बड़ा घाटा

जिसकी पूर्ति बहुत सहजमें नहीं होती । इसपर भी बड़े आश्वासनकी बात तो यह है कि हमारा जितना जीवन शेष है, उतना भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पर्याप्त है। हमने पहले कुछ भी किया हो, उसकी हमें कोई चिन्ता नहीं करनी है, यदि हम एक काम कर लें कि अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दें । अपने बचे हुए जीवनको चाहे वह एक युग हो, एक वर्ष हो, एक महीना हो, एक घड़ी हो, एक मिनट हो अथवा अन्तिम श्वास ही क्यों न हो, यदि हमने भगवान्‌को सौंप दिया तो वह एक श्वासका जीवन भी हमें भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है। इसलिये निराश-हताश होनेकी आवश्यकता नहीं है; परंतु यह समझ लेना चाहिये कि मानव-जीवन केवल और केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। यह भोगोंकी प्राप्तिके लिये है ही नहीं।

मानव-योनि भोगयोनि नहीं है । यह यदि भोगमें लग गया और इसका विवेक भोगमें प्रवृत्त हो गया तो यह निश्चित राक्षस बनेगा, पिशाच बनेगा, असुर बनेगा। ये जितने भी वनैले जानवर, हिंसक जीव हैं, ये इतने जीवोंको नहीं खा सकते, जितनोंको यह (मनुष्य) खाता रहेगा । हर प्रकारसे यह हिंसामय बनेगा । इसके कारखाने, इसकी मिलें, इसके आयोजन, इसके बड़े-बड़े युद्ध, इसके बड़े-बड़े (हत्यामय) काण्ड, इसकी बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ, इसके आविष्कार—सब क्या हैं? ये सब कसाईखानेसे बढ़कर हैं । यह भोगोंमें प्रवृत्त हुआ कि इसका पतन हुआ । फिर इसमें मानवता नहीं रह सकती । मनुष्यकी मनुष्यता तो बस, एक बातको लेकर ही है कि उसके जीवनकी गति भगवान्‌की ओर हो ।

अन्तिम बात यह है, जो मुझे प्रार्थनाके रूपमें आपसे कहनी है कि मानव-जीवनकी जो वास्तविक सुन्दर स्थिति है, उसको भूलें नहीं । जो कुछ भी मानवको प्राप्त है, वह भगवान्‌की कृपासे ही है । मनुष्य अपने जीवनको इसीकी प्राप्तिमें लगाये, दूसरे किसी काममें नहीं । जो काम इसमें बाधक हो, उसे न करे । जो कोई भी प्राणी, पदार्थ अपने हैं, वे भगवान्‌के सम्बन्धसे ही हैं। जितना बचा हुआ जीवन है, अथवा जितने श्वास बाकी हैं, उतना ही भगवान्‌को सौंप दे—'भगवन् ! अबतक तो मैं बड़ी कुप्रवृत्तिमें रहा । मैंने खोया-ही-खोया, आपकी सारी पूँजी गवाँ दी। अब तो सात श्वास बचे हैं। सात ही नहीं, दो श्वास बचे हैं, ये आपको अर्पण हैं ।' इतनेमें ही वे कह देंगे—'भाई ! आ गया ! आखिर सब कुछ खो-खा करके भी शरणमें तो आ गया ।' और कहेंगे—'चिन्ता मत करो। तुम आये और मैं आया ।' यह भगवत्प्राप्तिकी बड़ी सीधी राह है । इसलिये जीवनके इस प्रधान कार्यको कभी न भूलें और इसीमें लगे रहें । (पुराने प्रवचनसे)

संसार—भ्रम-घर

एक-एक कर, जा रहे,
सब, निज-पर, अरि-यार,
फिर भी समझें, हम अमर,
हद भ्रम-घर संसार ॥

—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि'

'बड़ रखवार रमापति जासू'

[कहानी]

(लेखक—स्व० श्रीब्रह्मेशजी भटनागर, एम्० ए०)

क्षिप्रा दादीका कण्ठहार थी। हर समय उसीके पास रहती। रात्रिको शान्ता उसे अपने कक्षमें ले जाती, किंतु प्रातः पूजा-गृहसे आरतीका स्वर सुनते ही वह दौड़ पड़ती। आरती उसे कण्ठाग्र थी। पूजाके पश्चात् दादी उसे स्नान कराती, वस्त्र बदलती। वह भी दादीकी ही भाँति माला जपती।

एक दिन क्षिप्रा गोपालसे भोग लगानेका आग्रह कर रही थी—'तुम्हारा नाम 'लड्डू गोपाल' है न ? तुम्हें लड्डू रुचिकर लगते हैं, इसलिये मैं तुम्हारे लिये ताजे लड्डू लायी हूँ। खा लो, मेरे अच्छे गोपाल !' वह नेत्र बंद कर बैठ गयी, बीच-बीचमें अर्धनिमीलित नेत्रोंसे देखती जाती थी कि अभी लड्डू वैसे ही रखे हैं या कुछ कम हो गये।

'अरे ! तुम्हें लज्जा लगती है ? अच्छा, मैं पर्दा खींच देती हूँ।' वह फिर आँख बंद कर बैठ गयी। इस बार उसने कुछ विलम्बसे पर्दा उठाया। 'नहीं खाओगे गोपाल ! दादीके हाथसे कैसे खा लेते हो ? तुम नहीं खाओगे तो दादी मेरी हँसी उड़ायेगी। खा लो न।' उसने एक बार फिर पर्दा गिराया। आखिर वह खीझ उठी—'तुम नहीं खाओगे गोपाल तो मैं रूठ जाऊँगी, मचल जाऊँगी, रो पड़ूँगी; फिर तो खाओगे न ?' वास्तवमें वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी सुबकियाँ बँध गयीं। माँ और दादी आ गयीं। 'गोपाल नहीं खाते, दादी !' क्षिप्राने रोते-रोते कहा।

'पागल हुई है। कहीं मूर्ति भी खाती है।' शान्ताने झिड़का।

'तुम क्षिप्राकी भावनाको ठेस न पहुँचाओ, बहू !' दादीने संयत स्वरमें कहा। 'मैं इसे समझा दूँगी।' शान्ता बड़बड़ाती चली गयी।

'रो मत, बेटी ! अबकी बार नेत्र बंद करके प्रार्थना कर। गोपाल तेरे लड्डू अवश्य खायँगे।' कहकर दादी भी घरके काममें लग गयी; परंतु मन-ही-मन अपने प्रभुसे प्रार्थना करती रही—'खा लो, मेरे प्रभो ! नहीं तो बालिकाका विश्वास डगमगा जायगा, उसकी आस्थाकी लाज आपको रखनी होगी।'

कुछ क्षणके पश्चात् क्षिप्रा कूदती-हँसती-चिल्लाती हुई आयी—'गोपालने लड्डू खा लिये, दादी ! देखो, उनके मुखसे छीनकर लायी हूँ।' दादी पुलकित हो गयी प्रभुकी भक्त-वत्सलतापर। उसके नेत्र बरस पड़े—'बड़े कौतुकी हो, मेरे प्रभो !'

शान्ताने झल्लाकर कहा—'कहाँ खाया है, ज्यों-का-त्यों तो रखा है।' अब वृद्धा चुप न रह सकी—'बच्चेके विश्वासको न झुठलाओ, बहूरानी ! उसकी निष्ठाको तर्ककी कसौटीपर मत कसो।'

× × ×

गोपाल क्षिप्राके दिये लड्डू नित्य खाने लगे। शान्ताको क्षिप्राका पूजा-पाठ करना अच्छा नहीं लगता था। क्षिप्रा अंग्रेजी स्कूलकी छात्रा थी, प्रतिभाशालिनी एवं कुशाग्र-बुद्धि थी। उसे एक बारमें ही पाठ कण्ठस्थ हो जाता था। उसकी दिनचर्या पूर्ववत् ही चलती रही। कभी-कभी वह दादीके साथ मन्दिर भी जाती।

क्षिप्रा दादीसे मनोयोगपूर्वक नित्य भागवतकी कथा सुनती थी। प्रारम्भमें पूतना, बकासुर आदि राक्षसी-राक्षसोंके अमानुषिक अत्याचारोंसे वह क्षुब्ध होती, किंतु जब गोपाल सरलतासे उनका वध कर देते तो वह खिल उठती।

फिर कालिय-मर्दनका प्रसङ्ग आया। श्रीकृष्ण सखाओंके साथ गेंद खेलते-खेलते कालियदहमें कूद पड़े। क्षिप्रा घबरायी, हृदयमें प्रश्न उभरे—'गोपालको कालिय जीवित न छोड़ेगा। यशोदा मैया वियोगमें रो-रोकर प्राण त्याग देंगी।' कथा बढ़ी। कृष्ण कालियके फनोंपर नृत्य करने लगे। क्षिप्रा प्रसन्न हो गयी। उसने गर्वसे सिंहासनपर बैठे गोपालकी ओर देखा, जैसे कह रही हो—'मेरे गोपाल ! तुम्हारा कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता।'

फिर करुण प्रसङ्ग आया। श्रीकृष्ण अक्रूरके साथ मथुरा जा रहे थे। गोपियोंकी रोते-रोते बुरी दशा हो रही थी। कोई चुपचाप खड़ी आँसू ढरका रही थी, कोई रुलाई रोकनेमें असमर्थ, फूट-फूटकर सुबक रही थी, कोई विरह-व्यथाको न सह सकनेसे बेसुध हो गयी थी। रथको घेरे हुए चारों ओरसे सभी जन आकुल, विह्वल, अश्रुपूरित नयनोंसे

श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखकर याचना कर रहे थे—'हमें छोड़कर मत जाओ, हमारे सर्वस्व ! तुम्हारे बिना यमुना-तट, सघन-कुञ्ज, गौ-गोष्ठ हमें काट खानेको दौड़ेंगे ।' उधर यशोदा मैया पछाड़ खा रही थी—'मेरे लाल ! मेरे गोपाल !! अरे निर्मोही !!! मुझे छोड़कर कहाँ जा रहा है ? एक बार तो मेरी ओर देख ले । मत जा, कन्हैया ! मैं तेरा वियोग न सह सकूँगी, मेरे नीलमणि !' फिर नन्दबाबासे बोली—'देखो, मेरा लाल प्रातः उठते ही मक्खन-मिश्री खाता है । भूलना नहीं, खिला देना, बड़ा संकोची है । इसका ध्यान रखना ।'

दादीका स्वर विह्वल हो रहा था—रो पड़ी क्षिप्रा । वह दिनभर उदास रही । उसके नयनोंमें गोपालकी विदाईका दृश्य घूमता रहा । कंस-संहार-कथा सुनकर उसने एक बार फिर गोपालकी ओर दर्पसे देखा ।

× × ×

रात्रि हो चुकी थी । आकाशमें तारे टिमटिमा रहे थे । दादीके समीप लेटी क्षिप्राने आग्रहके स्वरमें कहा—'मीराकी कहानी सुनाओ न, दादी !' उसके आग्रहपर दादी उसे मीराके बचपनकी घटना सुनाने लगी—

एक दिन एक महात्मा पधारे । उनके पास एक सुन्दर मूर्ति देखकर मीरा मचल गयी—'बाबा ! यह मूर्ति मुझे दे दो, चाहे मेरे आभूषण, वस्त्र ले लो ।' महात्माने दृढ़तासे कहा—'नहीं, बेटी ! यह मूर्ति मैं किसी मूल्यपर भी नहीं दे सकता । इस मूर्तिके रूपमें मेरे प्राण हैं, जीवन हैं, सर्वस्व हैं । ये मुझ निर्धनके दाता, निराश्रयके आश्रय, निरालम्बके अवलम्ब हैं । इन्हें मत माँग, बेटी !' महात्माका गला रुँध गया । मीरा रोती रही । उसने अन्न ग्रहण नहीं किया ।

प्रातः महात्माने मीराको पुकारा—'ले, गोपालको सँभाल । बेटी ! यह निर्मोही अब मुझसे ऊब गया है, मेरे पास नहीं रहना चाहता ।' महात्मा रो पड़े । ''रात्रिमें इसने मुझे स्वप्नमें कहा—'मुझे मीराको दे दो ।' इस कठोरकी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ ।'' महात्मा चले गये ।

मीरा फूली न समायी । वह मूर्ति ले घूम-घूमकर नाचने लगी । **'मैं तो गिरधरके संग नाचूँगी ।'** दिन बीतने लगे ।

राजमहलके सामनेसे एक बारात जा रही थी । मीराने माँसे पूछा—'मेरा दूल्हा कौन है ?' माँ चुप रही, किंतु उसने आग्रह किया तो माँने झुँझलाकर मूर्तिकी ओर संकेत किया—'यह है तेरा दूल्हा ।' मीराकी हृत्तन्त्री झंकृत हो उठी और उसने मन-क्रम-वचनसे गिरधरको अपना पति मान लिया । वह कहने लगी—

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।'

'रात्रि अधिक हो गयी है, क्षिप्रा ! चल, सो जा ।' माँने आकर कहा । वह चली गयी, किंतु उसे नींद न आयी । रात्रिमें उसने स्वप्न देखा—

गोपाल सामने खड़े हैं । वह कह रही है—'गोपाल ! मेरे कोई भाई नहीं है । तुम मेरे भाई बनोगे ? बोलो, गोपाल ! बनोगे न ? मौन क्यों हो ? क्या मैं तुम्हारी बहन बननेके योग्य नहीं हूँ ?' वह गिड़गिड़ायी । उसे लगा, जैसे गोपालने स्वीकृतिमें सिर हिलाया, वह प्रसन्नतासे भर गयी । 'दादी, दादी' वह चिल्लायी ।

माँने उसे झकझोरा—'क्यों चिल्ला रही हो, क्षिप्रा ? क्या स्वप्न देखा है ?'

'माँ ! गोपाल मेरा भाई बन गया है ।' 'गोपाल ?' माँ झुँझलायी । 'गोपालके अतिरिक्त तुझे कुछ और भी सूझता है ? सो जा चुपचाप ।' क्षिप्रा चुप होकर पुनः विचारोंमें खो गयी ।

प्रातः उठते ही उसने दादीको अपना स्वप्न सुनाया । दादी पुलकित हो गयी, बोली—'गोपाल बड़ा दयालु है, क्षिप्रा ! उसके साथ जो सम्बन्ध जोड़ो, वह वही बन जाता है ।'

'फिर तो मैं रक्षाबन्धनके दिन गोपाल भैयाको राखी बाँधूँगी न, दादी ?'

'हाँ, हाँ, क्यों नहीं, वह तेरा जन्म-जन्मान्तरका भाई हो गया ।' दादीने कहा । क्षिप्रा हर्षित हो गयी ।

× × ×

रक्षाबन्धनका दिन आया । क्षिप्राने बड़ी सुन्दर राखी बनायी । शान्ताने पूछा—'यह क्या कर रही है, क्षिप्रा ?'

'गोपाल भैयाके राखी बाँधूँगी, माँ !'

'कौन गोपाल भैया ?'

'दादीके पूजा-गृहमें जो बैठे हैं ।'

'अरे, कोई मूर्तिके भी राखी बाँधता है ?'

'नहीं, गोपाल मेरे भाई बन गये हैं । उन्होंने मुझे राखी बँधवानेका वचन भी दिया है ।'

माँ झल्ला उठी—'तेरी तो बुद्धि फिर गयी है ।'

'सच, माँ ! जबतक मैं राखी न बाँध लूँगी; अन्न ग्रहण न करूँगी ।'

'पगली मत बन, क्षिप्रा ! यदि तेरे भाग्यमें राखी बाँधनेका योग होता तो मनीषकी मृत्यु क्यों होती ?' शान्ताके नेत्रोंके समक्ष अपने दशवर्षीय पुत्र मनीषकी आकृति उभर आयी । कितना सुन्दर, कैसा मेधावी और निपुण था । सारी आशाएँ उसीपर केन्द्रित हो गयी थीं; किंतु उसकी मृत्युसे सब कुछ ध्वस्त हो गया । आँसू पोंछती हुई वह अपने कमरेमें चली गयी ।

मध्याह्नके भोजनके समय क्षिप्राके दुराग्रहपर माता-पिताकी मनुहारोंका कोई प्रभाव न पड़ा । वह अडिग बनी रही । क्रोधभरे स्वरमें श्यामने माँसे कहा—''क्या सनक सवार हो गयी—'गोपालके राखी बाँधूँगी ।' तुम्हीं समझाओ न, माँ ! तुम्हारी बात तो यह ब्रह्म-वाक्य मानती है । 'गोपाल-गोपाल'की रट लगाये हुए है, दुराग्रहसे प्रभु प्रसन्न नहीं होते ।'' 'तुम चिन्ता न करो, बेटा !' माँने शान्त स्वरमें कहा । 'प्रभु अवश्य कृपा करेंगे । उसकी इच्छा पूरी होगी ।'

श्याम चला गया । दादीने गोपालसे प्रार्थना की—'प्रभो ! यह बाल-हठ है, आपको अवश्य पूरा करना होगा । बालिकाको उपहासका पात्र न बनाना, मेरे नाथ !'

रात्रिको फिर क्षिप्रासे भोजनके लिये आग्रह हुआ, भाँति-भाँतिके प्रलोभन दिये गये, किंतु वह अपने निश्चयपर अटल रही । वृद्धाके समझानेपर अन्य सबने भोजन किया और शय्यापर चले गये । बिलखती हुई क्षिप्राने दादीसे कहा—'दादी ! क्या गोपाल भैया नहीं आयेंगे ? राखी यों ही रह जायगी ? चाहे मेरे प्राण चले जायँ, मैं बिना गोपाल भैयाको राखी बाँधे अन्न ग्रहण न करूँगी ।'

'दुःखी मत हो, बेटी ! प्रभु बड़े करुणाशील हैं । वे अपने जनकी पुकारपर दौड़े चले आते हैं । विश्वास रख, वे अवश्य राखी बँधवाने आयेंगे ।'

दादीके वचनोंसे क्षिप्रा कुछ आश्वस्त हुई । वह अपने कमरेमें राखीका थाल लेकर चली गयी और शय्यापर गिरकर रो पड़ी—'क्या तुम वास्तवमें नहीं आओगे, भैया ? तो तुमने क्यों वचन दिया था ? द्रौपदीकी टेरपर आ सकते हो, नरसीकी भात भर सकते हो, क्या मेरी साध अधूरी रहेगी ? बोलो, कबतक प्रतीक्षा करूँ ? तुम्हीं बताओ, तुम्हारी बहन बनकर अब किसके राखी बाँधूँ ? आ जाओ, गोपाल भैया ! एक बार तो दर्शन दे दो ।'

रोते-रोते क्षिप्राको न जाने कब नींद आ गयी । सहसा अत्यन्त मधुर स्वर सुनकर उसने नेत्र खोले ।

'क्षिप्रा मेरी बहन ! उठ, मैं आ गया ।' कमरेमें तीव्र प्रकाश फैला था और सामने गोपाल भैया खड़े उसे जगा रहे थे । प्रभुने पीताम्बरसे उसके आँसू पोंछते हुए कहा—'अरे, रोती है, क्षिप्रा ! मुझे क्षमा कर दे, बहन देख, मैंने भी अभीतक भोजन नहीं किया है । बड़ी भूख लग रही है । चल, राखी बाँध दे ।' क्षिप्रा प्रसन्नतासे उठ बैठी । गोपालके हाथोंमें राखी बाँधते हुए बोली—'तुम बड़े अच्छे हो, भैया ! तुमने मेरी टेक रख ली ।'

'अब अधिक बात न बना, ला मिठाई खिला ।' हँसते हुए क्षिप्राने एक रसगुल्ला प्रभुके मुखमें रख दिया ।

'पगली ! मैं तो तेरे बुलानेपर वैसे ही आ जाता, भूखी रहनेकी क्या आवश्यकता थी ?'

'अब तुम आया करोगे न, भैया !'

'हाँ, जब तू बुलायेगी, मैं अवश्य आ जाऊँगा । अच्छा, अब मैं चलूँ ।' प्रभु अन्तर्धान हो गये ।

क्षिप्राने पुकारा—'गोपाल भैया, गोपाल भैया !' उच्च स्वर सुनकर शान्ताको क्रोध आ गया ।

'क्यों चिल्ला रही है ?'

उसने नेत्र खोले—'गोपाल भैया चले गये, माँ !'

'कैसे गोपाल भैया, दीवानी हो रही है ?'

'सच माँ ! अभी तो वे यहीं थे । मैंने उनके हाथमें राखी बाँधी थी । देखो, माँ ! थालीमें राखी नहीं है ।' शान्ताको राखी पड़ी दिखायी दी । 'रखी तो है, अनर्गल बकती रहती है । सो जा ।' कहकर वह चली गयी । प्रातः उठकर क्षिप्राने समस्त घटना दादीको सुनायी । वह गद्गद हो गयी—'प्रभु बड़े करुणामय हैं । वे अपने जनकी प्रत्येक इच्छा पूरी करते हैं ।' क्षिप्राके नयनोंमें अब भी वही दृश्य घूम रहा था । वह प्रसन्न थी । उसकी चिर अतृप्त लालसा पूरी हो गयी थी । समय पंख लगाकर उड़ने लगा ।

एक दिन वृद्धाने श्यामसे कहा—'बेटा ! मैं नदीके तीरका वृक्ष हूँ । कब उखड़ जाऊँ, पता नहीं । मेरी कामना है कि जीते-जी क्षिप्राके हाथ पीले कर जाऊँ ।'

वरकी खोज प्रारम्भ हुई । एक सम्पन्न परिवार और सुन्दर लड़का मिल गया । धूम-धामसे विवाहका कार्य पूरा हुआ ।

विदाईका समय था । क्षिप्राको हृदयसे लगाते हुए भर्राये स्वरमें दादीने कहा—'मधुर व्यवहार और सेवा-भाव वशीकरणके मूल मन्त्र हैं । बेटी ! सेवामें आलस्य न करना, संघर्षके क्षणोंको मधुर मुस्कानसे टालना, पतिकी इच्छामें अपनी इच्छा समाहित करना । उनकी प्रत्येक सुख-सुविधाका ध्यान रखना । ये ही नारी-जीवनकी सफलताके मूल मन्त्र हैं, अमूल्य तत्त्व हैं ।' माता-पिता एवं दादीको उदास छोड़ क्षिप्रा अपने गोपाल भैयाको साथ ले डोलीमें बैठी ।

× × ×

मोहनको क्षिप्राकी और सब बातें तो जँचीं, परंतु उसके पूजा-पाठ उसे अच्छे न लगते थे । उसकी दृष्टिमें ईश्वरका मूल्य किसी 'कल्पना' से अधिक न था ।

अपने मृदु स्वभावके कारण अल्प समयमें ही क्षिप्रा परिवारमें घुल-मिल गयी । ऐसी सुलक्षणा, सुशिक्षिता एवं सुन्दर वधू पाकर परिवार फूला न समाया । प्रातः उठकर स्नान आदिसे निवृत्त हो गोपालका मानसिक पूजन कर वह गृहस्थीके कार्यमें जुट जाती । वह अपने पति मोहनकी प्रत्येक आवश्यकताका ध्यान रखती थी ।

लगभग दस वर्ष बीत गये । मोहन क्षिप्राकी सेवावृत्तिसे संतुष्ट था । यद्यपि उसकी ईश्वरसम्बन्धी आस्थामें अबतक कोई परिवर्तन नहीं आया था, तथापि क्षिप्राका शील-सौजन्य देखकर वह उसके धार्मिक कार्योंमें बाधा न डालता था । अब वह दो बच्चोंका पिता भी बन चुका था । दिनभर सरकारी कार्यालयमें काम करना और शामको बच्चोंसे खेलते-खेलते सो जानामात्र ही उसकी दिनचर्या थी । गोविन्द और गीताकी क्रीड़ा तथा किलकारियोंसे गृह गूँजता था । क्षिप्रा बालकोंके सामने सुन्दर-सुन्दर पद गाती और वे दोनों तोतले स्वरमें माँका अनुसरण करते । प्रातः गोविन्द और गीताको पूजा-पाठ करते देख मोहन खीझ उठता—'तुम इन्हें पोंगा-पंथी बनाना चाहती हो । केवल महात्मा होनेसे कार्य न चलेगा । [illegible] युगके अनुसार चलना होगा । आधुनिकताकी शिक्षा-दीक्षा लेनी होगी ।'

× × ×

क्षिप्रा बालकोंके साथ गोपालकी माखनचोरीका अभिनय कर रही थी । दोनों बालक खिलखिला रहे थे । क्षिप्रा बोली—'सुनो ! ये माखन-चोर तुम्हारे मामा हैं ।' आश्चर्यसे गोविन्दने कहा—'मैंने तो इन्हें कभी नहीं देखा, माँ !' 'हमारे घर तो ये कभी नहीं आये ?' गीताने कहा ।

'आते हैं, जब कोई उन्हें प्रेमसे बुलाता है, रो-रोकर पुकारता है । वे बड़े दयामय हैं । हाथीकी कथा याद है न ? जब मगर टाँग पकड़कर हाथीको जलके भीतर ले जा रहा था । तो उसने रो-रोकर पुकारा और वे आ गये, उसकी रक्षा की ।'

'मेरे बुलानेसे आ जायँगे ?' गोविन्द बोल उठा ।

'अवश्य आयेंगे । बालकोंसे वे बड़ा प्रेम करते हैं । उनकी एक पुकारपर दौड़े चले आते हैं ।'

'मैं अवश्य बुलाऊँगी ।' गीताने उत्साहभरे स्वरमें कहा ।

आफिससे लौटनेपर बालकोंने अपने पितासे गोपाल मामाके विषयमें कहा । वह आश्चर्यमें भर गया—'ये गोपाल मामा कौन हैं, क्षिप्रा ? मैंने तो इनके विषयमें न कभी सुना है और न इन्हें देखनेका सौभाग्य ही प्राप्त हुआ है ।' 'आइये, मैं आपका उनसे परिचय कराती हूँ ।' कहती हुई वह उसे पूजा-गृहमें ले गयी । श्रीकृष्णका सुन्दर चित्र दिखाती हुई बोली—'ये हैं मेरे गोपाल भैया ! कहिये, कैसे लगे ?'

'तुम्हें ही शुभ हो, क्षिप्रा !' उपेक्षाके स्वरमें मोहनने कहा । 'किंतु इन बालकोंके साथ तो अन्याय न करो, कल्पित कहानी सुनाकर, ईश्वरत्वका भय दखाकर इनके भोलेपनमें हीनताकी भावना न भरो और इन्हें भीरु न बनाओ ।'

'तर्क तो नहीं करती, किंतु मेरा विश्वास है कि जिस बच्चेके शैशवमें नैतिकताके साथ-साथ धार्मिकताके संस्कार पड़ जाते हैं, घोर भौतिकतावादी वातावरणमें रहते हुए भी वह ईमानदार, कर्मठ, परिश्रमी एवं कर्तव्य-परायण होगा । यदि आप अनुचित समझते हैं तो इन्हें भी चलने दीजिये, जैसे आजकी पीढ़ी लक्ष्यहीन अग्रसर हो रही है ।' क्षिप्रा गम्भीर हो चली थी ।

'तुम बुरा मान गयी, क्षिप्रा ! मेरा तात्पर्य है कि [illegible] प्रारम्भ

करनी चाहिये ।' समझाते हुए मोहन बोला ।

'विश्वास कीजिये, मैं इनकी सर्वतोमुखी उन्नतिके लिये पूर्ण सजग हूँ ।' क्षिप्राका स्वर सहज नम्र था ।

× × ×

मोहनको कार्यालयके किसी कार्यसे एक मासके लिये बाहर जाना पड़ा । जब लौटा तो उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था । दिनमें कई बार खूनी दस्त होते । रह-रहकर पेटमें भीषण दर्द भी उठता था । विवश होकर उसे कार्यालयसे अवकाश लेना पड़ा । चिकित्सकोंने उसके उदरमें भयंकर फोड़ा बताया । घरपर ही चिकित्सा चलने लगी, परंतु उसकी स्थिति उत्तरोत्तर गिरती ही जा रही थी । अन्ततः वह बिस्तरसे चिपक गया । बचनेकी कोई आशा न रही । वैद्य-डाक्टरोंने निराशाजनक उत्तर दे दिये थे ।

क्षिप्रा अपनी सुध-बुध भूलकर मनोयोगसे पतिकी सेवामें लगी रहती । बच्चोंसे कहती—'अपने गोपाल मामासे प्रार्थना करो, वे ही तुम्हारे पिताजीको अच्छा करेंगे । उन्हींकी शरणमें जाओ । वे ही बिगड़ी बनायेंगे ।' कहते-कहते उसका स्वर रुद्ध हो जाता । उसकी इच्छा होती कि एकान्तमें बैठकर वह अपने गोपाल भैयाको रो-रोकर बुलाये, अपनी करुण-कथा सुनाये । आँसू बाहर निकलनेको मार्ग टटोलते भी, किंतु मोहनके समक्ष वह सदा मुस्करानेका ही प्रयास करती, उसका मन बहलाती रहती । उसकी बिगड़ती दशा देखकर वह अंदर-ही-अंदर अत्यधिक चिन्तित रहती थी ।

गोविन्द और गीता गोपालसे प्रार्थना करते—'गोपाल मामा ! कब आओगे ? आ जाओ न, मामा ! पिताजीकी दशा बिगड़ती जा रही है । तुम क्यों नहीं आते ? क्या हमारी टेर तुम्हारे कानोंतक नहीं पहुँच रही है ? माँ कहती हैं, तुम बड़े दयालु हो, बालकोंके बुलानेपर दौड़े चले आते हो । क्या तुम हमसे रूठ गये हो ? क्षमा कर दो न, मामा ! पिताजीको नीरोग करने आओ ।'

माँको देखकर गीता रो पड़ी—'गोपाल मामा नहीं आते, माँ ! मेरे बुलानेसे नहीं आते । तुम्हीं बुलाओ न, माँ !' 'रो मत, बेटी !' क्षिप्राने उसे हृदयसे लगा लिया । 'आयेंगे, तुम्हारे मामा अवश्य आयेंगे ।' उसका स्वर रुद्ध हो गया और आँखोंसे अश्रु बहने लगे । 'गोपाल तो दुःखहारी हैं, हमारा संकट अवश्य दूर करेंगे ।' क्षिप्रा आँसू पोंछती हुई चली गयी ।

× × ×

आज मोहन अत्यन्त बेचैन था । उसकी जीभ सूखती-सी जा रही थी । बोलनेमें असमर्थ मोहनने क्षिप्राको जल पिलानेके लिये संकेत किया । क्षिप्राने आँसू पोंछते हुए तुलसीमिश्रित शीतल गङ्गाजल उसके मुखमें डाला । थोड़ी देर बाद मोहनने आँखें बंद कर लीं । क्षिप्राने स्नेहसे उसके मस्तकपर हाथ फेरते हुए कहा—'घबराइये नहीं, प्रभुपर विश्वास रखिये । आपका बाल भी बाँका नहीं होगा । प्रभुका स्मरण कीजिये ।' मोहनने आँखें न खोलीं । पास ही बैठे चिकित्सक महोदयने संकेतसे क्षिप्राको कुछ समझाया और वे उठकर चलने लगे । क्षिप्रा भी उन्हें बाहरतक छोड़ आनेके लिये साथ-साथ उठ खड़ी हुई । बाहर आनेपर उसने व्यग्रतासे पूछा—'इनकी कैसी हालत है, कृपया मुझे स्पष्ट बताइये ।' चिकित्सक महोदय बोले—'जहाँतक मैं समझता हूँ, अब ये कुछ ही घंटे और निकाल पायेंगे, फिर जैसी भगवान्‌की इच्छा ।'

क्षिप्रा व्यथित-मना आँसू बहाती अपने कमरेकी ओर दौड़ी । द्वार बंद करके उसने रोते-रोते अपने प्यारे भैयाकी पूजा की । अपने गोपाल भैयासे आज वह कुछ भी नहीं बोल पा रही थी । हाथमें आरतीकी थाली लिये खड़ी थी, नेत्रोंसे टप-टप आँसू गिर रहे थे । उसका मन करुण चीत्कार कर रहा था—'गोपाल भैया ! जीवनकी झिंझरी नैया मझधारमें फँस रही है । कहींसे, किसीसे सम्बलकी आशा नहीं है । केवल तुम्हारी ओर विश्वासभरे नयनोंसे देख रही हूँ । कृपाकी बल्लीसे पार लगाओगे न, मेरे केवट ! निराशाकी आँधी मुझे आत्मसात् करने बढ़ती आ रही है । पथ नहीं सूझ रहा है । मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही हूँ । तुम्हारे अतिरिक्त कौन सुनेगा मेरी व्यथा ?'

द्वारपर थपथपाहट हुई—'माँ ! माँ ! दरवाजा खोलो । देखो, पिताजी कुछ भी नहीं बोलते, माँ ! तुम अंदर क्यों बैठी हो ? बाहर आओ न, माँ !' वह निश्चल बैठी थी । 'मैं कहीं नहीं जाऊँगी, गोपाल भैया ! तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगी । जबतक तुम मेरी बिगड़ी न बना दोगे, संकटकी घड़ीसे न उबारोगे और मेरे सुहागकी लाली अक्षुण्ण न करोगे, मैं कहीं नहीं जाऊँगी । गोपाल भैया ! तुम बड़े दयालु हो, कोमलहृदय हो, दीन-दुःखियोंकी व्यथा सुनकर द्रवित हो जाते हो । भक्तजनोंकी पुकारपर दौड़े चले आते हो । मेरी बार मौन क्यों ? बोलो अन्तर्यामी ! बोलो । क्या तुम्हारे होते हुए तुम्हारी [illegible] नहीं [illegible] ऐसी कल्पना भी असह्य

है। तुम आओगे, अवश्य आओगे। अपने वचनकी लाज रखने आओगे न, गोपाल भैया !' वह अधीर हो सिंहासनपर मस्तक रख फूट-फूटकर रो पड़ी। अपने पीड़ा-जलसे गोपाल भैयाको भिगोने अश्रु-सरिता अबाधगतिसे बह रही थी। वह इसी दशामें चेतनाशून्य-सी न जाने कबतक मनकी गुहार अपने प्रभुको सुनाती रही।

द्वार खटखटाते हुए बालकोंका स्वर सुनकर वह चौंकी। 'माँ! द्वार खोलो, पिताजीने आँखें खोल ली हैं, वे होशमें आ गये हैं। तुम्हें बुला रहे हैं। द्वार खोल दो, माँ !' उनके स्वरमें प्रसन्नता थी। उसने गोपाल भैयाके चित्रकी ओर देखा। गोपाल भैयाकी अभय-मुद्रा और मुखमण्डलपर बिखरी हुई मृदु मुस्कान देखकर वह हर्षातिरेकमें निमग्न हो गयी। उसे लगा, जैसे गोपाल भैया अपना वरद-हस्त उठाकर कह रहे हैं—'तेरी सुहागकी लालिमा सदा-सदाके लिये अमर हो गयी, क्षिप्रा !' उसने चित्र उठाकर हृदयसे लगा लिया—'मेरे गोपाल भैया !' प्रभुकी भक्तवत्सलतापर वह गद्गद हो गयी। उसने द्वार खोला और दौड़कर अपने पतिके पास गयी।

मन्द स्वरमें मोहनने कहा—'तुम्हारे गोपाल भैयाने बचा लिया, क्षिप्रा !' क्षिप्रा गद्गद हो गयी यह सुनकर।

कुछ शक्ति आयी तो मोहनने बताया—'क्षिप्रा ! मैं जीवनकी आशा छोड़ चुका था। मैं संज्ञाहीन हुआ कि सहसा एक मृदुल, मधुर और सुखद स्पर्शसे मेरा अचेतन मन पुलकित हो उठा। मैंने पीत वस्त्र धारण किये, मुकुट पहने, हाथमें वंशी लिये हुए एक सुन्दर सलोने श्यामल बालकको देखा। वह मेरे मस्तकपर अपना हस्तकमल रखे मुझे अभय प्रदान कर रहा था। न जाने कैसा जादू था उसके नयनोंमें, कैसा आकर्षण था उसकी मृदु मुस्कानमें ! मैं अपलक उसे निहारने लगा। मेरे क्षोभ, दुःख, संताप सभी तिरोहित हो गये थे; किंतु सहसा वह न जाने कहाँ छिप गया ? क्षिप्रा ! उसके बिना मैं बेचैन हूँ !' कहते-कहते उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

क्षिप्राके नेत्रोंसे अजस्र अश्रु-धारा बह रही थी। कहीं दूर इकतारेपर कोई तन्मयतासे गाता जा रहा था—

'सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'

(प्रेषक—श्रीमनोजकान्तजी भटनागर)

श्यामके प्रति—

(रचयिता—कविकिंकर श्रीजगन्नाथप्रसादजी, साहित्यालंकार)

(१)

नन्द को दुलारौ प्राण प्यारौ नैन तारौ मोहि
उरमें समायौ श्याम पीत पट वारौ है।
गज को बचायो चीर द्रोपदी बढ़ायो जाइ
गिरवर उठायो ब्रज बूड़तौ उबारौ है॥
मार्‍यौ कँस थाप्यौ यदुवंश दिव्य द्वारिकामें
आश जग की न मोहि वाही को सहारौ है।
काल की न शंक बंक भृकुटि विलास लखि
जग रखवारौ सो हमारौ रखवारौ है॥

(२)

लोल हैं कपोल, गोल-गोल रतनारे नैन
भृकुटि-विलास छवि देखि चैन आवैना।
गल वनमाल भाल सुघड़ अनूप रूप
मीठी मुसकान ओठ दीठि दृग लावैना॥
बाल जाल मोर पच्छ कटि-माँहि पीतकच्छ
देखिके त्रिभंगीलाल कौन हरषावैना।
बस्यौ श्याम रूप रहे नैन उर माँहि नित
'किंकर' बिलोकि कछु और मन भावैना॥

तुलसीदासजीके श्रीराम

(लेखक--श्रीराजेशकुमारजी श्रीवास्तव 'राज')

गोस्वामी तुलसीदासजीका वैशिष्ट्य इस दृष्टिसे नहीं है कि वे एक महाकवि, मनस्वी एवं अध्यात्म-चिन्तक थे, अपितु इस कारण है कि वे जीवनकी हर विधामें जन-मानसके निकटतम रहे हैं। जब हम साहित्य-जगत्में तुलसीदासजीका सर्वाग्रगण्य स्थान देखते हैं, तब इसका जो एकमात्र कारण हमें परिलक्षित होता है, वह है तुलसीदासजीद्वारा श्रीरामके व्यक्तित्वमें निरूपित शील-तत्त्व। यद्यपि श्रीरामचरितमानसके आरम्भमें ही तुलसीदासजीने श्रीरामके अखिल ब्रह्माण्डव्यापी ब्रह्म-स्वरूपका दिग्दर्शन करा दिया है—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

(मानस १। श्लोक ६)

'जिनकी मायाके वशीभूत सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्मादि देवता और असुर हैं, जिनकी सत्तासे रस्सीमें सर्पके भ्रमकी भाँति यह सारा दृश्य जगत् सत्य ही प्रतीत होता है और जिनके चरण ही भवसागरसे तरनेकी इच्छावालोंके लिये एकमात्र नौका हैं, उन समस्त कारणोंसे परे (सब कारणोंके कारण और सबसे श्रेष्ठ) श्रीराम कहलानेवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं वन्दना करता हूँ।'

इतने दिग्दर्शनसे भी सम्भवतः तुलसीदासजी संतुष्ट नहीं हुए, यही कारण है कि 'कृपाला दीनदयाला'के अवतरणके समय भी उनका प्रथम रूप मौलिक तथा प्रचलित 'चतुर्भुज-धारी' ही बताया गया—

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी॥

(मानस १। १९१। छन्द)

तथापि जिस उद्देश्यसे उन्होंने दिव्य मानवीय काया धारण की थी—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥

(मानस १। १९२)

—उसकी पूर्तिके लिये उनका शीलमय व्यक्तित्व नितान्त आवश्यक था। शील हृदयकी वह स्थायी स्थिति है, जो सदाचारकी प्रेरणा आप-से-आप उत्पन्न करती है। गोस्वामीजी-द्वारा किया गया श्रीरामके शीलमय व्यक्तित्वका विशद एवं मर्मस्पर्शी चित्रण मानव-हृदयको बरबस आकर्षित कर उससे तादात्म्य स्थापित करनेकी अभूतपूर्व आकाङ्क्षा जाग्रत् करता है। यही कारण है कि किसी भी स्तर, प्रदेश, समुदायका व्यक्ति मानसमें गोता लगानेपर अन्ततः पाता है कि उसका रोम-रोम श्रीराममय हो गया है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामके ब्रह्म एवं विष्णुरूपका आभास दिलानेके पश्चात् मूलतः जिस व्यक्तित्वका विशदरूपसे चित्रण किया गया है, वह 'मर्यादापुरुषोत्तम'के नामसे अभि-व्यक्त किया गया है। अपने इसी रूपमें तुलसीदासजीके श्रीराम कृपालु हैं, लोकरक्षक हैं, दाशरथि हैं। कर्तव्यपरायण व्यक्तित्वके प्रतिपादन-हेतु ही तुलसीदासजीने अपनी साधनाको वैयक्तिक अथवा ऐकान्तिक न बनाकर उसका सामाजिक स्वरूप ही स्वीकार किया है। 'मानस'में श्रीरामके पुत्र, शिष्य, बन्धु, पति, मित्र, शत्रु और राजा आदि रूपोंके चित्रणद्वारा शील, आचार, धर्म एवं लोक-मर्यादासम्बन्धी उच्चादर्शोंका जो उदात्त स्वरूप तुलसीदासजीने प्रस्तुत किया है, उसकी सार्वदेशिकता एवं कालातीतता निर्विवाद है।

'मानस'के श्रीराम एक आदर्श पुत्र हैं, बचपनसे ही वे अपने माता-पिताके आज्ञापालक हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

(मानस १। २०४। ४)

परंतु उनकी इस मातृ-पितृ-भक्तिका चरम दिग्दर्शन कैकेयीकी वर-याचनाके अवसरपर ही होता है, जब वे मातृ-पितृ-भक्त पुत्रको 'बड़भागी' कह राज्यत्याग एवं वन-गमनको स्वीकार करते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

(मानस २। ४०। ४)

परंतु स्वतः वन जानेको प्रस्तुत होनेपर भी माता-पिताकी देख-रेखके प्रति वे सचेष्ट हैं, इसीलिये वे भैया लक्ष्मणको घरपर ही रहनेका संकेत करते हैं—

असजियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
(मानस २ । ७० । १)

और यही कारण उनके सीताको रोकनेका भी है—

कहउँ सुभायँ सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखउँ तोही॥
(मानस २ । ६० । ४)

अतः माता-पिताके चरणकमलोंमें पूर्णरूपसे रमा रहनेवाले तथा उनके सुख-दुःखके समक्ष अपने कष्टोंकी उपेक्षा कर देनेवाले किशोर श्रीरामका शीलमय चरित्र किसे प्रभावित नहीं कर देगा ?

अध्ययन-कालमें श्रीरामका साक्षात्कार दो गुरुजनों—विश्वामित्र एवं वसिष्ठसे होता है। महर्षि विश्वामित्र श्रीरामके दीक्षा-गुरु हैं। यद्यपि किशोरावस्थाके कुछ समयतक ही श्रीरामको उनका संरक्षण प्राप्त होता है, तथापि 'मानस'का पाठक इस लघुकालमें ही श्रीरामके विनीत, अनुशासित तथा सत्यभाषी शिष्यत्वसे भावाभिभूत हो उठता है। भ्रमण, शयन, विश्राम, धनुर्भङ्ग आदि सभी अवसरोंपर श्रीराम 'गुरु-आयसु'की अपेक्षा करते दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ चौपाइयाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥
(मानस १ । २१७ । ३)

बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
(मानस १ । २२५ । ३)

समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥
(मानस १ । २२६ । १)

महर्षि वसिष्ठ श्रीरामके कुलगुरु हैं, वे उनके जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत, विवाह और अभिषेक आदि सभी संस्कार सम्पन्न कराते हैं। श्रीरामके राज्याभिषेकके पूर्व उन्हें शिक्षा देने-हेतु जब गुरु वसिष्ठ उनके महलमें पधारते हैं, तब श्रीराम जिस भक्तिभावसे गुरुका स्वागत करते हैं, वह द्रष्टव्य है—

गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥
(मानस २ । ८ । १–३)

शास्त्रोंकी उक्ति है कि गुरुकी सबसे बड़ी विजय शिष्यसे पराजित हो जानेमें है और निस्संदेह गुरुको ऐसी विजय श्रीराम-जैसा आदर्श शिष्य ही दिला सकता था।

'मानसकार'ने श्रीरामचरितमानस लिखते समय यद्यपि भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—तीनों भाइयोंके प्रति श्रीरामके आदर्श भ्रातृ-स्नेहका निरूपण किया है, तथापि श्रीरामके सांनिध्यका सर्वाधिक अवसर एवं लाभ लक्ष्मणको मिला है। 'मानस'में बचपनसे ही श्रीराम एवं लक्ष्मणके साथ-साथ रहनेका उल्लेख है—

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥
(१ । १९७ । २)

इसका संकेत 'रघुवंश' (१० । ८१) और 'अध्यात्म-रामायण'में भी मिलता है। श्रीराम-लक्ष्मणके मधुर भ्रातृत्वका उदात्त रूप वनवास-प्रसङ्गान्तर्गत देखनेको मिलता है, जहाँ श्रीराम लक्ष्मणकी सुरक्षा एवं प्रसन्नताका ध्यान अत्यन्त सतर्कतासे रखते हैं—

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें॥
(मानस २ । १४१ । १)

और 'लक्ष्मण-मूर्च्छा-प्रसङ्ग'में तो उन्हें भ्रातृ-प्रेमके समक्ष अपनी सत्य-प्रियता एवं पितृ-भक्तिपर भी क्षोभ हो उठता है—

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
(मानस ६ । ६० । ३)

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति श्रीरामके भ्रातृ-स्नेहका हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
(२ । २३० । ४; २३१ । २)

ऐसी अनेक पङ्क्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं, जो श्रीरामके प्रगाढ़ बन्धु-प्रेमकी परिचायिका हैं।

श्रीरामके उज्ज्वल चरित्रका जो संयतरूप महर्षि विश्वामित्र-द्वारा धनुष-भङ्गकी आज्ञा दिये जानेपर दृष्टिगोचर होता है, उसका अवलोकन कर हृदय 'मानसकार'के प्रति श्रद्धा-संवलित हो उठता है—

सुनि गुरु वचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥
(मानस १ । २५३ । ४)

श्रीरामके 'सीतापति' रूपको भी तुलसीदासजीने जिस मर्यादापूर्ण ढंगसे निभाया है, वह स्तुत्य है। अन्यथा कुछ कवियोंने गृहस्थाश्रमको एकमात्र रति-क्रीड़ापर आधारित मानकर अपने ग्रन्थोंको काम-क्रीड़ाके जिस उन्मुक्त चित्रणसे भर दिया है, उसको यदि लोक-शील-मर्यादाका हनन कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। तुलसीदासजीने भी 'मानस'में शृङ्गारके दोनों पक्षों—संयोग और वियोगका चित्रण किया है, परंतु जगज्जननीकी मर्यादा एवं परमकृपालु श्रीरामके मर्यादापुरुषत्वको ध्यानमें रखते हुए। तुलसीदासजीने 'मानस'में स्थान-स्थानपर श्रीरामके स्निग्ध हृदयका परिचय दिया है—

हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥

× × ×

रहहु भवन अस हृदयँ बिचारी। चंदबदनि दुखु कानन भारी॥

(२। ६२। ३-४)

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं

(२। १४०। १)

—में श्रीरामके आभ्यन्तरिक प्रेमकी अभिव्यक्ति तथा वनचर्यान्तर्गत उनके दाम्पत्य जीवनका जो सात्त्विक दिग्दर्शन मिलता है, वह स्तुत्य होनेके साथ-ही-साथ तुलसीदासजीके कवित्वकी उत्कृष्टताका भी परिचायक है।

वियोगावस्थामें श्रीरामके कृत्रिमता एवं औपचारिकतासे हीन स्वरूपकी इतनी मुखर एवं प्रखर अभिव्यञ्जना हुई है कि फलस्वरूप 'मानस'का वियोग-वर्णन काव्य-जगत्‌की एक अनुपम कृति बन गया है। उदाहरणार्थ, हनुमान्‌जी श्रीरामके जिस संदेशको लेकर सीताके पास जा रहे हैं, उसके ही एक अंशको पढ़ें—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(मानस ५। १४। ३-४)

उपर्युक्त पङ्क्तियाँ श्रीरामके विरही हृदयका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती हैं। इसी प्रकार श्रीरामकी वह व्याकुल दशा किस मानसप्रेमीको सकरुण नहीं कर देती, जब वे वनमें भटकते हुए सबसे पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

(मानस ३। २९। ५)

यद्यपि श्रीराम 'मानस'में न तो हनुमन्नाटक (५। ३), महानाटक (४। १८) अथवा भट्टिकाव्य (६। १२–२२)की भाँति अतीतके क्रीड़ा-विलासका स्मरण कर विलाप करते हैं, न सीताके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सौन्दर्यका वर्णन कर उनके अकाल विनाशकी कल्पनासे क्षुब्ध ही होते हैं, तथापि 'मानस'में उनकी विरह-वेदना सहज मर्मस्पर्शी रूपमें अभिव्यक्त हुई है। विरह-चित्रणमें तुलसीदासजीकी इस अद्वितीय सफलताके दो ही आधार हैं—प्रथम तुलसीदासजीके अन्तःकरणकी सात्त्विक वृत्ति और द्वितीय मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामके शीलमण्डित लोक-रञ्जक व्यक्तित्वका उदात्त उच्चादर्श।

मानसकारने श्रीराम और सुग्रीवके संदर्भमें मित्रताके उच्चादर्शोंकी प्रतिष्ठा भी की है। इस मित्रताका आरम्भ ही अग्निको साक्षी देकर होता है—

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥

(मानस ४। ४)

तदनन्तर मित्रताको द्योतित करनेवाली श्रीरामद्वारा कही गयी निम्न उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
... ...
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

(मानस ४। ६। १–३)

मित्रका क्लेश दूर करने-हेतु ही वे वालीका वध करते हैं। तदनन्तर राजसुखमें मग्न सुग्रीवके प्रमादसे क्षुब्ध होते हुए भी उसके क्षमा माँगनेपर उसे भरतके समान प्रिय भाई कहकर अपने सुकोमल मित्र-हृदयका परिचय देते हैं—

तब रघुपति बोले मुसकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई॥

(मानस ४। २०। ४)

तथा—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(मानस ७। ७। ४)

'मानस'के श्रीराम जिस प्रकार आदर्श मित्र हैं, उसी प्रकार आदर्श शत्रु भी हैं। **'बिप्र धेनु सुर संत हित'**की रक्षा करनेके लिये ही अवतरित होनेके कारण धर्माचरणमें बाधक असुर एवं अधम अभिमानियोंसे उनकी शत्रुता स्वाभाविक कही जा सकती है। पर इस संदर्भमें भी उनके शौर्य एवं पराक्रमकी अपेक्षा क्षमाशीलता ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वाली, रावण आदिके घृणित, नृशंस एवं अमानुषिक कृत्योंके कारण ही लोक-मर्यादाके रक्षक मनुजावतारी श्रीरामने उनका वध किया, यद्यपि श्रीरामका हृदय उनके प्रति सहज निर्मल था। शत्रुका प्राण-हरण कर तथा उसे निज पद प्रदान कर श्रीरामने जिस उदात्त व्यक्तित्व एवं नीतिका परिचय दिया है, वह अनुकरणीय एवं वन्दनीय है।

वे युद्ध-नीतिपर सदैव अविचल रहते हैं—शत्रुकी पीठपर वार नहीं करते; पर प्रत्यक्षतः बलवान् शत्रु ही नहीं, कालसे भी वे लड़ सकते हैं—

रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥
जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर बिमुख मैं हतउँ न काहू॥

(मानस ३ । १८ । ५-६)

रावणको भी वे योगि-दुर्लभ गति प्रदान करते हैं—

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥

(मानस ६ । १०४)

'मानस'में निरूपित श्रीरामके विभिन्न रूपोंको तो हम अवसरानुकूल स्मरण करते हैं, पर उनके 'राजाराम' रूपका व्यक्तित्व तो हिंदू-समाजके लिये नित्य स्मरणीय है और 'रामराज्य'का तो कहना ही क्या?

श्रीरामके राज्यमें न कोई दीन है, न दुःखी। विद्या, बुद्धि, शुभ लक्षणोंसे हीन मनुष्योंका भी अभाव है। सभी अयोध्या-वासी 'कृतकृत्य' हैं। उनमें कपटादिकी छाया भी नहीं है। सभी स्त्री-पुरुष स्वकर्मोंके प्रति सचेष्ट हैं। पर यदि हम ध्यान दें तो प्रजाके इन उत्कृष्ट आचरणोंकी पृष्ठभूमि शीलवान् दयानिधान मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके सात्त्विक एवं निर्मल व्यक्तित्वकी छायासे आरक्षित लक्षित होगी।

भारतीय भक्त-समाजमें श्रीरामको जो अपार श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और समर्पण प्राप्त हुआ है, वह शायद ही भारतीय देवसमूहके किसी व्यक्तित्वको प्राप्त हुआ हो और इसका एकमात्र कारण है श्रीरामकी शरणागत-वत्सलता। श्रीरामके इस गुणमें उनकी लौकिकता एवं अलौकिकता दोनोंका अद्भुत समावेश है। श्रीरामके गुणोंका श्रवण-कीर्तन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों फलोंको देनेवाला है—

बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥

(मानस २ । १०)

शायद ही कोई ऐसा जीव इस पृथ्वीपर हो, जिसकी मुक्ति श्रीरामकी शरण ग्रहण करनेपर न हुई हो—

जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥

(मानस ७ । १२९ । ४)

शरणागतवत्सलता अपने सर्वोत्कृष्ट रूपमें 'विभीषण-प्रसङ्ग'में दृष्टिगोचर होती है, जब रावणद्वारा शक्ति-प्रहार किये जानेपर श्रीराम विभीषणको पीछे कर स्वयं उसे झेल लेते हैं—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

(मानस ६ । ९३ । १)

यों सिद्धान्तरूपमें शरणागतवत्सलताको श्रीराम स्वतः स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

(मानस ५ । ४३)

'मानस'के नायकके लौकिक व्यक्तित्वसे न्यूनाधिक सम्बन्ध रखनेवाले अंशोंकी एक संक्षिप्त रूप-रेखा अबतक प्रस्तुत की गयी, जिसमें उनकी विश्वव्यापकता, असीम कृपालुता तथा वर्णनातीत सौन्दर्यके शील-मर्यादा-मण्डित स्वरूपका एक आभास मिलता है।

वस्तुतः सीमा-भङ्गकी अवस्थासे मुक्त रखते हुए अनन्त-को इस प्रकार सीमित करना कि उसकी अनन्तता भी पूर्ववत् रहे; गुणातीतमें गुणोंका आरोपण करते हुए भी उनके निर्गुणत्वको अक्षुण्ण रखना-जैसे कृतित्व साहित्य-जगत्‌में सफलतापूर्वक रख सके तो बस, एकमात्र तुलसीदासजी ही।

गीताका ज्ञानयोग—१५

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

(गताङ्क पृष्ठ ५२९ से आगे)

श्लोक—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

भावार्थ—

पुरुष कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित होते हुए भी प्रकृतिमें स्थित होनेसे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे प्रकृतिजन्य गुणोंका अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थमात्रका भोक्ता बन जाता है । गुणोंकी अर्थात् क्रियाओं और पदार्थोंकी आसक्ति प्रकृतिस्थ पुरुषके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है । वास्तवमें वह शुद्ध सच्चिदानन्दघनस्वरूप है ।

अन्वय—

प्रकृतिस्थः, हि, पुरुषः, प्रकृतिजान्, गुणान्, भुङ्क्ते, गुणसङ्गः, (एव,) अस्य, सत्-असत्-योनिजन्मसु, कारणम् ॥ २१ ॥

पद-व्याख्या—

प्रकृतिस्थः हि पुरुषः प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते— प्रकृतिमें स्थित हुआ पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थोंका भोक्ता बनता है ।

'प्रकृतिस्थ' कहनेका उद्देश्य पुरुषको 'प्रकृतिमें स्थित' बतानेमें नहीं है । वस्तुतः वह प्रकृतिमें स्थित न होते हुए भी प्रकृतिके अंश (कार्य) शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही 'प्रकृतिस्थ' कहा जाता है ।

त्रिगुणात्मक पदार्थोंका भोक्ता बननेमें क्या हेतु है ? इसी तथ्यका-विवेचन इन पदोंमें हुआ है । जबतक पुरुषका स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ किंचित् भी सम्बन्ध रहता है, तबतक उसे 'प्रकृतिस्थ' कहा जाता है; क्योंकि ये तीनों ही शरीर प्रकृतिके कार्य हैं ।

प्रकृतिस्थ पुरुष तीनों शरीरोंके साथ माने हुए सम्बन्धसे ही सुख-दुःख भोगता है । 'क्षेत्रज्ञ' स्थूल-शरीरके सम्बन्धसे संसारके पदार्थों और क्रियाओंसे, सूक्ष्म-शरीरके सम्बन्धसे जाग्रत्‌में तो अनुकूलता-प्रतिकूलताके चिन्तनसे और स्वप्नमें स्वप्नके पदार्थों और क्रियाओंसे सुख-दुःख भोगता है । कारण-शरीरके सम्बन्धसे (सुषुप्तिसे जाग्रदवस्थामें आनेपर) 'मुझे गहरी नींद आयी' अथवा 'अच्छी नींद नहीं आयी'—इस प्रकार स्मरण कर अपनेको सुखी-दुःखी मानता है । समाधिमें भी चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र होनेसे जो सुख-शान्ति मिलती है अथवा अखण्ड समाधि न लगनेसे जो अशान्ति होती है, उसमें भी उसे सुख-दुःखकी अनुभूति होती है । यह समाधिका सुख-भोग अथवा पूर्ण समाधि न लगनेसे विक्षेप कारण-शरीरके सम्बन्धसे ही है । समाधि और सुषुप्तिके सुख-दुःखमें भी अधिकता और न्यूनताका अनुभव होता रहता है; क्योंकि जबतक वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक जीवको परमानन्दकी उपलब्धि नहीं होती । स्थूल-शरीरके सुखकी अपेक्षा सूक्ष्म-शरीरका सुख विशेष है और उसकी अपेक्षा कारण-शरीरका सुख श्रेष्ठ है; किंतु जबतक तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है, तबतक वह (जीव) दुःखसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता अर्थात् उसे दुःखरहित एकरस सुखकी प्राप्ति नहीं होती ।

शरीरको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' माननेवाला प्रकृतिस्थ पुरुष ही 'भोक्ता' बनता है । अज्ञानके कारण प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे मिलनेवाले सुख-भोगकी इच्छासे

ही वह शरीरको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानता है। जबतक शरीरमें किंचिन्मात्र भी सुख-भोगकी इच्छा रहती है, तबतक उसकी प्राप्तिके लिये शरीरसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता बननेके कारण उसे उनका फल भोगना ही पड़ता है। यद्यपि क्रियाओंके होनेमें प्रकृतिकी प्रधानता है, तथापि उनके सुख-दुःखरूप फलोंको भोगनेमें पुरुषका प्राधान्य है। जैसे कार-दुर्घटनासे किसीकी मृत्यु होनेकी क्रियामें कार और कार-चालक दोनोंका सहयोग है, पर क्रियाके होनेमें केवल कारकी ही प्रधानता है। दुर्घटनाका फल (दुःख) केवल उस कार-चालकको भोगना पड़ता है, जो दुर्घटना-कालमें अपना सम्बन्ध कार चलानेसे मानता है अर्थात् उसका कर्ता बनता है, अन्यको नहीं। वैसे ही पुरुषसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्रकृतिसे ही समस्त क्रियाएँ होती हैं, परंतु उनमें जिन-जिन क्रियाओंके साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मान लेता है, उन-उन क्रियाओंके सुख-दुःखरूप फलोंका वह भोक्ता बन जाता है। यदि उसे प्रकृतिसे निर्लिप्तताका यथार्थ अनुभव हो जाय और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिद्वारा होती हुई माने [जो वास्तवमें प्रकृतिद्वारा ही होती हैं (१३ । २९)] एवं उनसे अपने सुख-भोगकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे तो वह उन क्रियाओंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त ही रहेगा। उसका प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहेगा, इसलिये वह उन क्रियाओंके फलका भोक्ता भी नहीं बनेगा। पुरुष यदि भोक्तापनमें कारण नहीं बनता तो वह स्वतः गुणातीत ही है।

गुणसङ्गः (एव) अस्य सत्-असत्-योनिजन्मसु कारणम्—गुणोंका सङ्ग ही प्रकृतिस्थ पुरुषके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें हेतु है।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। इन तीनों गुणोंसे ही सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिस्थ पुरुष जब इन गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब ये उसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण हो जाते हैं। सत्त्वगुणके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे वह ऊर्ध्व लोकोंमें अर्थात् स्वर्गादि उच्च लोकोंमें देवादि शरीरोंको धारण करता है। वैसे ही रजोगुण और तमोगुणके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे क्रमशः मनुष्य और पशु-पक्षी आदि नीच योनियों तथा नरक-यन्त्रणा भोगनेवाले शरीरोंमें जन्म लेता है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(१४ । १८)

गुणोंके कार्य—देश, काल और वस्तुसे सम्बन्ध मानकर मनुष्य जबतक अपनेको एकदेशीय मानता है, तबतक उसका गुणोंके साथ सङ्ग है ही। जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति रहती है, उसकी वैसी ही वासना बनती है। वासनाके अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है। पदार्थों एवं व्यक्तियोंद्वारा (आसक्तिपूर्वक) सुख लेनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणमें पड़ जाते हैं। वारंवार सुख-भोगके अनुसार चिन्तन होता है, उसे संकल्प-विकल्प अथवा मनोराज्य कहते हैं। उसीसे पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार यह गुणोंका सङ्ग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण कहा गया है।

पुरुषके प्रकृतिस्थ स्वरूपका वर्णन करनेके पश्चात् अब अगले श्लोकमें भगवान् उसके वास्तविक स्वरूपका वर्णन करते हैं कि यह पुरुष ही अनेक प्रकारकी उपाधियोंके सम्बन्धसे अनेक नामोंवाला होता हुआ भी प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—

श्लोक—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥२२॥

भावार्थ—

जैसे प्रकृतिमें स्थित होकर गुणोंके साथ सम्बन्ध [जोड़नेसे यह (पुरुष) भोक्ता बनता है और] ऊँच-नीच

योनियोंमें जन्म लेता है, वैसे ही (उपाधियोंके कारण) क्षेत्रको निकटसे देखनेवाला होनेसे **'उपद्रष्टा,'** यथार्थ अनुमति देनेवाला होनेसे **'अनुमन्ता,'** संसारका भरण-पोषण करनेवाला होनेसे **'भर्ता,'** अनेक देव-रूपोंमें तप-यज्ञादिका **'भोक्ता,'** अनन्त ब्रह्माण्डोंका शासक—नियन्ता होनेसे **'महेश्वरः,'** प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत होनेसे **'परमात्मा'** आदि नामोंसे कहा गया है। वास्तवमें (तो यह) पुरुष इस देहमें रहता हुआ भी स्वतः देहसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है। **'पुरुषः परः'** पदोंसे इसी बातकी ओर संकेत किया गया है।

अन्वय—

उपद्रष्टा, च, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वरः, च, परमात्मा, इति, उक्तः, पुरुषः, अस्मिन्, देहे, (स्थितः,) अपि, परः, (एव) ॥ २२ ॥

उपद्रष्टा—निकटसे देखनेवाला होनेसे यह उपद्रष्टा कहा गया है।

क्षेत्रज्ञ सबसे स्थूल रूपमें अपने-आपको 'कर्ता' देखता है, जिसमें स्थूल-शरीर और कर्मेन्द्रियोंके साथ अपना मुख्य सम्बन्ध मानता है। फिर उससे सूक्ष्म उसका दूसरा रूप 'भोक्ता'का होता है, जिसमें वह ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरणके साथ अपना मुख्य सम्बन्ध मानता है*। फिर उसका तीसरा सूक्ष्म रूप 'ज्ञाता'का होता है, जिसमें वह केवल बुद्धिके साथ अपना सम्बन्ध मानता है। 'मैं बहुत समझदार हूँ'—ऐसा मानकर अपनेको बुद्धिका स्वामी मानता है, पर वास्तवमें यह बुद्धिकी दासता है। अपने वास्तविक स्वरूपको जाननेमें तो समझ कामकी (उपयोगी) है, परंतु इसकी दासता किसी कामकी नहीं। (दासता किसीकी भी नहीं होनी चाहिये।) फिर उसका चौथा और सबसे सूक्ष्म रूप 'साक्षी'का होता है, जिसमें (साक्ष्य) बुद्धिसे साक्षीमात्र होनेका सम्बन्ध है, किंतु वह स्वयं बुद्धिसे सर्वथा निर्लिप्त है। जबतक बुद्धिमें लिप्तता है, तबतक वह प्रकृतिस्थ ही है।

बुद्धिकी लिप्तता पहचाननेकी कसौटी यह है कि यदि बुद्धिमें किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किंचिन्मात्र भी राग-द्वेषका भाव है तो वह उससे लिप्त है, यदि कहीं भी ऐसा राग-द्वेषका भाव नहीं है तो बुद्धिसे निर्लिप्त है। बुद्धिसे साक्षीमात्रका सम्बन्ध है अर्थात् उसे बुद्धिका भी देखनेवाला कहा गया है। वही यहाँ 'उपद्रष्टा' नामसे कहा गया है।

बुद्धिके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर क्षेत्रज्ञको अपना वास्तविक अर्थात् निर्लिप्त स्वरूप अनुभवमें आने लगता है। ज्ञानी महात्माकी अर्थात् गुणातीत पुरुषकी यह स्वाभाविक स्थिति है, जिसका वर्णन भगवान्ने उन्हें 'सम-दुःख-सुख' और 'स्वस्थ' (अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित) कहकर किया है (१४ । २४)।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता और साक्षी वस्तुतः एक क्षेत्रज्ञ ही है, जो क्षेत्रके साथ अपना मनःकल्पित सम्बन्ध न मानकर परमात्मामें अभिन्न-भावसे अपनी स्थितिका अनुभव कर लेता है। फिर उसे 'सर्वत्र परमात्मा ही है' (७ । १९), ऐसा प्रत्यक्षवत् अनुभव होता है।

देखनेवाला जिस भावसे देखता है, उसे संसार वैसा ही दीखता है तथा वह जब जिस सृष्टिको देखना चाहता है, तब उसीको देख सकता है। उदाहरणार्थ—जब हम हरद्वारको देखते हैं, तब हमें उज्जैन नहीं दिखायी देता, वैसे ही पुरुष (क्षेत्रज्ञ)के अन्तःकरणमें यदि संसार (क्षेत्र)के प्रति राग होगा और वह संसारको देखेगा तो उसे संसार संसारके रूपमें (पृथक् सत्तावाला) ही दिखायी देगा; परंतु जब वह संसारसे विमुख होकर परमात्म-तत्त्वके साथ अपनी

* गीता कर्तृत्वमें केवल प्रकृतिको और भोक्तापनमें पुरुषको हेतु मानती है। इस दृष्टिकोणसे भोक्ता कर्तासे अन्तरङ्ग तो हो गया, किंतु उसकी जाति कर्ताकी ही है; क्योंकि कर्ता ही भोक्ता बनता है।

अभिन्नताका बोध करता है, तब उसे संसार संसारके रूपमें नहीं दिखायी देता, अपितु वह भी सच्चिदानन्दघनके रूपमें ही प्रतीत होता है; क्योंकि उसकी दृष्टि केवल सच्चिदानन्दघनस्वरूपमें ही स्थित होती है ।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित पदार्थ, प्रकाश एवं सूर्य—तीनों सूर्य अथवा सूर्यके रूपान्तर ही हैं; क्योंकि पदार्थमात्र और प्रकाश सूर्यसे ही उत्पन्न होते हैं; वैसे ही संसारमात्रको परमात्मासे ही उत्पन्न और प्रकाशित जानने एवं अपनी वास्तविकताका बोध होनेसे साधकको संसार भी परमात्मस्वरूप ही दिखायी देता है । वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं । केवल परमात्मा ही स्वतन्त्र और सर्वत्र हैं । इसी बातको भगवान् इस प्रकार कहते हैं कि तत्त्वज्ञ महापुरुषको 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है ।

च—और

अनुमन्ता भर्ता भोक्ता महेश्वरः च परमात्मा इति उक्तः—यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता,* संसारका भरण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, देवताओंके रूपमें तप-यज्ञादिका भोक्ता (९ । २४), अनन्त ब्रह्माण्डका शासक होनेसे महेश्वर और प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्योंसे सर्वथा असम्बद्ध और अतीत होनेसे उसे परमात्मा कहा गया है ।

वह एक ही तत्त्व भिन्न-भिन्न उपाधियोंके सम्बन्धसे 'अनुमन्ता' आदि पदोंसे सम्बोधित किया गया है, इसलिये इन पृथक्-पृथक् नामोंसे पुरुषके स्वरूपका वर्णन ही मानना चाहिये । वास्तवमें उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । वह क्षेत्रसे सर्वथा अतीत है । जैसे एक ही पुरुष देश, काल, वेश और सम्बन्ध आदिके अनुसार भिन्न-भिन्न (पिता, चाचा, ताऊ, मामा, नाना, भाई आदि) नामोंसे पुकारा जाता है, वैसे ही सर्वत्र परिपूर्ण परमतत्त्व अलग-अलग उपाधियोंके सम्बन्धके कारण भिन्न-भिन्न नामोंसे अभिहित होनेपर भी वास्तवमें एक ही है ।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्रका ज्ञाता होनेसे पुरुषके स्वरूपको 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है । क्षेत्रसे सम्बन्ध न रहनेपर वास्तवमें 'क्षेत्रज्ञ'-संज्ञाका अस्तित्व ही नहीं है ।

पुरुषः अस्मिन् देहे (स्थितः) अपि परः (एव)—पुरुष इस देहमें रहता हुआ भी इससे पर (अतीत) ही है ।

इसी अध्यायके इकतीसवें और बत्तीसवें श्लोकोंमें पुरुष (क्षेत्रज्ञ)के प्रभावका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि वह क्षेत्रज्ञ सर्वत्र स्थित होनेसे इस देहमें भी स्थित है, किंतु देहसे लिप्त नहीं है अर्थात् देहसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है । भगवान्ने इन पदोंसे पुरुषकी निर्लिप्तताका ही कथन किया है ।

दूसरे श्लोकमें **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** पदोंद्वारा भगवान्ने क्षेत्रज्ञसे अपनी अभिन्नता बतलायी है । उसी बातको यहाँ इस रूपमें कह रहे हैं कि जो क्षेत्रज्ञ भिन्न-भिन्न उपाधियोंसे 'उपद्रष्टा' आदि कहा गया है, वह वास्तवमें क्षेत्र अर्थात् दृश्यसे अत्यन्त परे शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही है ।

इस पदसे यह भाव भी लिया जा सकता है कि पुरुष (क्षेत्रज्ञ)का सम्बन्ध जितना इस शरीरके साथ है, उतना ही सब शरीरोंके साथ है । यदि उसका सम्बन्ध अन्य शरीरोंके साथ नहीं है तो इस शरीरके साथ भी नहीं है; क्योंकि सभी शरीर एक ही जातिके हैं । (क्रमशः)

—स्वामी रामसुखदास

---

* साधक जब अहंता, ममता, कामना, इच्छा आदिका त्याग कर निराश्रित हो भगवान्की शरणमें आकर जिज्ञासा करता है कि मुझे अब क्या करना चाहिये, तब उसके अन्तःकरणमें ही प्रभुकी ओरसे यथार्थ अनुमति (सम्मति) का स्फुरण होता है ।

प्रसन्नता मेरी—मुट्ठीमें आपकी !

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बात है कई बरस पहलेकी ।

दोपहरकी वेला । अचानक एक बुजुर्ग साथी पधारे । आते ही अपने घर-परिवारकी चर्चा करने लगे और उसीके दौरान लगे फफक-फफककर रोने !

मैं तो हैरान !

आँसू पोंछकर मैंने उन्हें सान्त्वना दी—'भाई साहब ! मैं हाजिर हूँ आपकी सेवाके लिये । आप जी छोटा न करें ।'

बात यह हुई कि हमारी भाभी साहिबा कुछ कड़े स्वभावकी हैं । भाई साहब ठहरे सीधे-सरल, सहनशील । वे उनका अत्याचार सहते हैं, सहते हैं, रात-दिन सहते हैं । पर मानवकी सहनशीलता भी तो कभी-कभी जवाब दे देती है ।

ऐसे ही एक पीड़ित क्षणमें अत्यन्त दुःखी होकर वे पधारे थे मेरे घर । बोले—'मुझे और कुछ न चाहिये । कभी जरूरत पड़नेपर मैं कुछ समयके लिये तुम्हारे पास आकर शान्तिपूर्वक रह सकूँ !'

'अवश्य, अवश्य ।' मैंने उन्हें आश्वासन दिया ।

सम्पन्न, भरा-पूरा परिवार । कमाऊ बाल-बच्चे । भाई-साहब सेवा-निवृत्त होकर भी कुछ-न-कुछ काम करके थोड़ा-बहुत कमा लेते हैं । घरमें कोई खास दिक्कत नहीं, समस्या नहीं । फिर भी भाई साहबकी प्रसन्नता रहती है मुट्ठीमें भाभी साहिबाकी !

× × ×

मुझे सुननेको मिला १४ अगस्त, १९५८को एक संतके श्रीमुखसे काशीमें ।

बोले—''मधुकरीके लिये जा रहा था एक दिन । देखा एक परिवार प्रसन्नतासे विह्वल । कुतूहल जगा । पूछा—'बात क्या है ?''

एक लड़की बोली—'बाबा ! भैया बी० ए०में पास हो गये । तार आया है अभी-अभी ।'

पूछा—'पास होनेकी यह प्रसन्नता तुम्हें कहीं दिखायी पड़ती है ?'

सब हँस पड़े । किसीने कोई जवाब नहीं दिया ।

फिर पूछा—'भैया पास हुआ है तो कल फेल तो हो नहीं जायगा; पर आज तुम्हें जितनी प्रसन्नता है, कल भी इतनी ही रहेगी ?'

सब बोले—'कल तो आजकी-सी प्रसन्नता नहीं रहेगी ।'

'क्यों नहीं रहेगी कल ? और आज भी तो तार आनेके पहले यह प्रसन्नता नहीं थी । इसका मतलब क्या है ? हमारी कोई कामना पूरी होती है तो हम प्रसन्न, बहुत प्रसन्न । कहीं हमारी सारी कामनाएँ पूरी हो जायँ तब तो कहना ही क्या ! पर किसीकी सारी कामनाएँ कभी भी पूरी हुई हैं ? फिर जरा-सी देरके लिये प्रसन्नतामें डूब जानेका कोई अर्थ है ?'

प्रसन्नता, तारके एक पुर्जेमें कैद !

× × ×

आज तो लाटरीका युग है, पर यह बात है आजसे तीसों बरस पहलेकी । तब अंग्रेज भारतमें राज्य करते थे ।

एक अंग्रेज साहबने एक टिकट खरीदा लाटरीका ।

मौज आ गयी, अपने खानसामाके नामसे भी एक टिकट खरीद लिया ।

किस्मतकी बात । कभी-कभी खुदा भी देता है तो छप्पर फाड़कर !

खानसामाके नाम लाटरीका इनाम निकल आया ।

अब साहबने खानसामाको बुलाया और बिना कुछ कहे बेत उठाकर लगा सड़ासड़ उसे पीटने ।

खानसामा रोता-चीखता रहा । साहब पीटता रहा ।

जब खानसामाकी रग-रग पीड़ासे छटपटाने लगी, तब साहबने लाटरीका पर्चा उसे देते हुए कहा—'ले, तू लाटरीका इनाम जीत गया !'

खानसामाका दर्द आनन-फानन हवा हो गया ।

खुशीमें, प्रसन्नतामें मस्त हो उठा वह ।

साहब उसे इतना न पीटता तो सम्भवतः खानसामा खुशीका उफान न सम्हाल पाता और टें बोल जाता ।

प्रसन्नता, लाटरीके इनामसे, अर्थ-प्राप्तिसे बँधी हुई !

× × ×

यों हमारी प्रसन्नताके एक नहीं, अनेक मुकाम हैं।

रुपया-पैसा, धन-दौलत, अनुकूल स्त्री-पुत्र, जमीन-जायदाद, परीक्षामें सफलता, अच्छी नौकरी, पद, अधिकार, नामवरी आदि।

लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा—सभीमें हमारी प्रसन्नता छिपी है। जिन लोगोंके माध्यमसे हमारी ये कामनाएँ पूरी होती हैं, उनकी मुट्ठीमें है हमारी प्रसन्नता।

× × ×

पत्नीसे सुख मिलेगा, वह रात-दिन सेवा करेगी, हमारे इशारेपर नाचेगी, हरदम 'म्याऊँ' बनी रहेगी। हमारी ये अपेक्षाएँ पूरी हुईं तो हम प्रसन्न, नहीं तो हमारा जीवन चौपट।

बेटेसे सुख मिलेगा, बुढ़ापेमें वह लकड़ीका काम देगा, हमारी सेवा करेगा, हमारी आज्ञाका पालन करेगा, जीते-जी ही नहीं, मरनेपर भी पानी देगा। ऐसा हुआ तो हम प्रसन्न, अन्यथा हमारे दुःखका पार नहीं।

माता-पिता, भाई-बन्धु, घर-परिवार—सभीसे हमारी अपेक्षाएँ हैं तरह-तरहकी। सभी लोग हमसे सद्व्यवहार करते हैं, हमारी फरमाइशें पूरी करते हैं तो हम प्रसन्न, अन्यथा हम अप्रसन्न।

क्या तमाशा है! प्रसन्नता हमारी, मुट्ठीमें इन सब लोगोंकी!

× × ×

साधु-संन्यासी हैं। दुनिया छोड़ दी, इससे क्या? उनकी प्रसन्नता है—भक्तों और चेलोंकी मुट्ठीमें। उन्होंने पर्याप्त सेवा की, सम्मान किया; आदर किया; तब तो बाबाजी प्रसन्न, नहीं तो कबीरकी दुहाई देते हैं—

या जग सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया रे!

× × ×

दफ्तरमें साहब और बड़े बाबूकी मुट्ठीमें हमारी प्रसन्नता रहती है। इतना ही नहीं, चपरासी महोदय भी उसे हथिया लेते हैं। वे यदि ठीकसे सलाम बजाते हैं, घण्टी बजाते ही दस्तबदस्त आ खड़े होते हैं और आज्ञाका पालन करते हैं तो हम प्रसन्न, अन्यथा उसकी नौकरी खा जानेको भी हम तैयार हो जाते हैं।

× × ×

हमारी दूकानपर ग्राहकोंकी भीड़ रहती है और वे हमसे सम्मानपूर्वक बोलते हैं, तब तो हम प्रसन्न, अन्यथा हम जरा देरमें मनका संतुलन खो बैठते हैं।

प्रसन्नता हमारी, मुट्ठीमें ग्राहकोंकी।

× × ×

घर-बाहर, यत्र-तत्र-सर्वत्र सैकड़ों-हजारों लोगोंसे हमारा सम्पर्क होता है। अच्छा व्यवहार मिला तो हम प्रसन्न, अन्यथा हमारा पारा चढ़ते देर नहीं।

× × ×

शामका वक्त है। मैं प्रसन्न बैठा हूँ। आप चुपकेसे सामने आकर मेरे सीनेपर पिस्तौल तान देते हैं—'धर दे, जो कुछ हो तेरे पास।' पलक मारते मेरी प्रसन्नता उड़ंछू। मेरा अङ्ग-अङ्ग भयसे थरथर काँपने लगता है। 'बचाओ'की आवाज भी मुँहसे नहीं निकल पाती, घिग्घी बँध जाती है।

भयका कोई प्रसङ्ग हो, क्षोभ और उद्वेगका कोई प्रसङ्ग हो, ईर्ष्या-द्वेषका, अर्थनाशका, किसी आत्मीयके जीवन-मरणका, रोग-बीमारीका कोई प्रसङ्ग हो, तुरंत हमारी प्रसन्नताका दिवाला बोल जाता है।

लोग हमारी प्रशंसा करें और हमें कुछ दें—धन दें, पद-प्रतिष्ठा दें, अधिकार और गद्दी दें—ऐसी वासना हृदयसे निकलती ही नहीं। तुलसी बाबाने ठीक ही कहा है—

'कोउ भल कहउ, देउ कछु—असि वासना न उर तें जाई!'

हमारी प्रसन्नता इसी वासनामें कैद है।

इसकी पूर्ति हुई तो हम प्रसन्न। पूर्ति न हुई, उसमें बाधा पड़ी तो हम अप्रसन्नताके किस गर्तमें जा पड़ेंगे, इसका कोई ठिकाना नहीं।

शरीर-रचना-विज्ञान—एनॉटमीका विद्वान् जॉन हंटर हृदयकी तीव्र उत्तेजना—Angina pectoris (जिससे अचानक हृद्गति बंद होकर मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है)की अपनी मान्यताके सम्बन्धमें कहता है—'My life is at the mercy of any rascal, who can make me angry.' (मेरा जीवन उस दुष्टकी कृपापर आश्रित है, जो मुझमें क्रोध भड़का सकता है!)

क्रोध भड़का, मैं उत्तेजित हुआ, फिर मैं कौन-सा ऊटपटांग काम कर बैठूँगा, इसका कोई ठिकाना है? तब तो यह सोचनेका भी मौका न रहेगा कि जान जायगी या रहेगी।

यदि कोई मेरी आलोचना करता है, मुझपर व्यङ्ग कसता है, मेरा विरोध करता है, मेरा अपमान-तिरस्कार करता है, मुझे धमकाता या मारता है तो देखते-देखते मेरी प्रसन्नता गायब हो जाती है। मेरी प्रसन्नता उसकी मुट्ठीमें चली जाती है।

× × ×

गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें पहला लक्षण है—

'मनमें उठनेवाली सारी कामनाओंका त्याग और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहना'—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(२। ५५)

यह आत्मासे आत्मामें संतुष्ट होना क्या है?

यही कि मेरी प्रसन्नता मेरी मुट्ठीमें हो, आपकी मुट्ठीमें नहीं।

वह भी कोई प्रसन्नता है, जिसकी चाभी दूसरेके हाथमें हो?

मेरी प्रसन्नता, मेरी खुशी मेरे हाथमें हो, तब तो कोई बात; अन्यथा जिसके हाथमें उसकी कुंजी रहेगी, वह जब चाहे मेरी प्रसन्नता छीन लेगा।

परायी मुट्ठीमें रहनेवाली, पराधीन बनाये रखनेवाली प्रसन्नता मेरे किस कामकी? वह प्रसन्नता नहीं, वह छलना है, धोखा है, भ्रम है, झूठ है।

× × ×

भक्तका लक्षण बतलाते हुए गीता कहती है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
(१२। १५)

'जिससे किसी जीवको उद्वेग न हो और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त न हो; हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग जिसे विचलित न कर सकें, वह भगवान्‌का प्यारा भक्त है।'

× × ×

मतलब?

यही कि भक्त वह, जिसकी प्रसन्नता उसकी अपनी मुट्ठीमें रहती है। जिससे न तो दूसरोंको उद्वेग होता है, न वह स्वयं किसी भी स्थितिमें किसीके द्वारा उद्विग्न होता है।

उसीकी प्रसन्नता स्थायी प्रसन्नता होती है।
उसीकी प्रसन्नता सच्ची प्रसन्नता होती है।

ऐसा प्रसन्न व्यक्ति न दुःखोंसे विचलित होता है, न द्वन्द्वोंसे।

कोई भी व्यक्ति, कोई भी वस्तु, कोई भी परिस्थिति उससे उसकी प्रसन्नता छीन नहीं सकती। हर परिस्थितिका वह स्वागत करता है—

यां यों भी वाहवा है औ वों भी वाहवा है!
काश, हम ऐसी प्रसन्नता पा सकें!

'जो तोकौं काँटा बुवै.........!'

समर्थ रामदास शिष्योंके साथ शिवाजी महाराजके पास जा रहे थे। रास्तेमें ईखका खेत पड़ा। शिष्योंने गन्ने तोड़-तोड़कर चूस लिये। खेतका मालिक दौड़ा। उसे देखकर शिष्य भाग गये। केवल समर्थ ही एक पेड़के नीचे बैठे थे। मालिकने सोचा—इसी गोसाइँने हमारे गन्ने तुड़वाये हैं। उसने उन्हें खूब पीटा और वहाँसे भगा दिया। धरित्रीके समान अन्तरमें अपार क्षमा-शान्ति रखनेवाले समर्थने चूँतक नहीं किया।

वे शिवाजी महाराजके पास पहुँचे। समर्थकी पीठपर कोड़ोंके घाव देख उन्होंने जाँच करवायी। ईखका मालिक पकड़कर उनके सामने लाया गया। शिवाने पूछा—'गुरो! इसे क्या दण्ड दूँ?'

समर्थने सारा दोष अपने ऊपर ले लिया और शिवाजी महाराजसे उसे क्षमा कर देनेके लिये कहा। इतना ही नहीं, उन्होंने ईखका वह खेत उसे इनाममें दिलवा दिया।

(मधुसंताच्या गोष्टी, भाग १)

बालूका महल !

(लेखक—आचार्य श्रीविष्णुदेवजी उपाध्याय, नव्यव्याकरणाचार्य)

फतेहपुर सीकरीकी मस्जिदमें दरवाजेके मेहराबपर खुदा हुआ है—

'The world is a bridge, pass over it, but build no house there. He who hopeth for an hour, may hope for eternity. The world is but an hour; spend it in devotion; the rest is unseen... thy best traffic is selling this world for the next.'

'संसार एक सेतु है, इसपरसे होकर गुजर जाओ। इसपर (रहनेका विचार कर) आवास मत रचो। वह, जो (वर्तमानमें) मात्र घंटेभर (विश्राम)की आशा करता है, (भविष्यमें) अनन्तकालिक आवासकी आशा सँजो सकता है। संसारकी (विद्यमानताकी) अवधि एक घंटामात्र है, इसे ईश्वराराधन, ईश्वर-भक्ति एवं सेवा-कार्यमें व्यतीत करो। वह लोक अदृष्ट है····। तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ जीवन-व्यापार इहलोकका परलोकसे विनिमय करना है।'

यद्यपि मनुष्यको इस संसारमें सदैव नहीं रहना है[1], तथापि उसने यहाँ अपने स्थायी निवासकी जोर-शोरसे तैयारियाँ कम नहीं की हैं। इसीलिये वह ईंट, रोड़ी, पत्थर, चूने और लकड़ीकी सहायतासे अपने रहनेके लिये एकके बाद एक सुन्दर और मजबूत घरोंका प्रचुरमात्रामें निर्माण करनेमें लगा हुआ है और पृथ्वीपर काल्पनिक स्वर्ग उतार लानेके लिये विज्ञान और प्रौद्योगिकीके नित्य-नवीन आविष्कारोंकी सहायतासे उन घरोंको सुख-सुविधापूर्ण बनानेकी दिशामें उत्कट लगनके साथ अहोरात्र सचेष्ट हैं।

इसपर भी सच यह है कि पृथ्वीपर अपना एक घर बनानेकी हमारी योजना एकदम असफल रही है। यदि हम यहाँ अपना एक घर बनानेमें सफलता प्राप्त कर लेते तो निस्संदिग्ध रूपसे संसारमें सर्वत्र हँसी-खुशीके सुखद साम्राज्यकी स्थापनाकी आशा कभी धूमिल न पड़ती। जीवनमें सुखके साथ दुःखका मिश्रण कभी न होता। गहरी उदासी एवं तीव्र संताप हमें इस प्रकार कभी व्यथित नहीं करते।

फिर क्या कारण है कि अपने हाथोंसे खड़े किये गये सुन्दर, मजबूत और विशाल भवनोंमें निवास एवं आरामदायक साधनोंकी प्रचुरताका उपभोग हमें सुखी और प्रसन्न नहीं बना रहा है? हम स्वयंको उद्विग्न और हताश क्यों पा रहे हैं? चारों ओर इतनी चहल-पहल और कोलाहल होनेपर भी हम हृदयकी गहराइयोंमें एक उबा देनेवाला सूनापन क्यों अनुभव कर रहे हैं? इतने बन्धु-बान्धवोंके (अपने पास) होनेपर भी हमारा एकाकीपन क्यों नहीं मिट रहा है?

प्रश्नोंकी यह झड़ी हमें गहराईसे सोचनेको बाध्य कर देती है और सोच-विचार कर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि स्थायी निवासके लिये संसार वस्तुतः उपयुक्त स्थान है ही नहीं। इसे अपना स्थायी निवास-स्थान बनानेके लिये हम प्रयत्न ही क्यों करें, जबकि यह कभी हमारा स्थायी निवास-स्थान नहीं बन सकता। संसार तो एक भयानक जंगल है, जिसमें वर्णनातीत और कटु कष्टोंके मारे आवागमनसे थककर चूर हम गिरते-पड़ते इधर-उधर भटक रहे हैं। भगवान् बुद्धके अनुसार भी—

[1] एक बौद्ध कहावतके अनुसार भी—The world is only a halting place. 'संसार एक पड़ाव (यात्री-विश्राम-स्थल) मात्र है।'

The pilgrimage (Saṃsāra) of beings, Buddha says, has its beginning in eternity. No opening can be discovered, from which proceeding, creatures, mazed in ignorance, fettered by a thirst for being, stray and wander...more tears have flowed from you (and have been shed by you, while ye strayed and wandered on this pilgrimage, and sorrowed and wept, because that was your portion which ye abhorred, and that which ye loved was not your portion) than all the water which is in the four great oceans.

(Oldenburgh: 'Buddha', p. 216-17)

'प्राणियोंकी संसाररूपा महायात्रा अनादिकालसे चल रही है । ऐसे किसी उद्गम-स्थलका पता नहीं है, जहाँसे चलकर प्राणी अज्ञानकी भूल-भुलैयामें फँसकर और अपने अस्तित्वकी तृष्णाके बन्धनोंमें बँधकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं । ····इस महायात्रामें इधर-उधर भटकते, कष्ट सहन करते और रोते हुए तुमने जो आँसू बहाये हैं (और इसलिये बहाये हैं कि जो तुम्हें हिस्सेमें मिला है, उससे तुम्हें अतृप्ति है और जो तुम्हें प्रिय है, वह तुम्हारे हिस्सेमें नहीं आया), वे (आँसू) चारों महासागरोंके जलसे अधिक हैं ।'

मृत्युने कदम-कदमपर हमें इस प्रकार परेशान कर रखा है कि न अन्तरिक्षमें, न जलनिधिकी (अथाह) गहराइयोंमें और न (अगम) गिरिकन्दराओंमें प्रवेश करनेपर ही ऐसा कोई स्थान इस संसारमें अन्वेषणीय है, जहाँ मनुष्य मृत्युसे अविजित होकर रह सका हो । यह शरीर व्याधिपूर्ण एवं नाशवान् है, यह अपराधागार (पापपुञ्ज) शरीर कण-कण बनकर बिखर जाता है । वास्तवमें जीवन अन्ततः मृत्युमय है[२] ।

मनुष्य जीवनको एक अभिशाप मान बैठा है[3] । वह अब किसी प्रकार भी जन्मके भावी (दूसरे) दुःखान्त नाटकमें अपना अभिनय उत्सुकतापूर्वक दोहरानेको तैयार नहीं । 'लीब्नीज' के आशावादके खण्डनमें दार्शनिक 'कांट'के द्वारा किया गया प्रश्न हर एक विचारकके हृदयकी क्रन्दनभरी आवाज है कि 'क्या कोई विवेकी पुरुष, जिसने बहुत दीर्घकालतक जीवन व्यतीत किया हो एवं मानवीय जीवनके महत्त्वपर ध्यान दिया हो, फिरसे जीवनके नगण्य नाटकमें प्रविष्ट होना पसंद करेगा ? मैं यह नहीं कहता कि उन्हीं अवस्थाओंमें, परंतु किन्हीं भी अन्य अवस्थाओंमें क्या वह जीवनमें स्वेच्छापूर्वक प्रविष्ट होना पसंद करेगा[४] ? निस्संदेह इन प्रश्नोंके मनमें उठनेपर हम इसका उत्तर नकारात्मक देंगे । किंतु हमारे पसंद करने अथवा न करनेसे होगा क्या, जब दैवका विधान हमारे हाथोंमें नहीं है—

२. 'धम्मपद'के अनुसार—'Not in the sky nor in the depths of the ocean, nor having entered the caverns of the mountain, nay such a place is not to be found in the world where a man might dwell without being overpowered by death. This body is wasted, full of sickness and frail; this heap of corruption breaks to pieces. Life indeed ends in death.'

३. 'जेरेमिआ'की यह निराशाजनक शब्दावलि अत्युक्ति नहीं है—Curshed be the day when I was born; the day my mother born me be unblessed...wherefore came I forth out of the womb? To see suffering and grief, that my days are consumed with shame !— XX

'अभिशप्त हुआ था वह दिन, जिसमें मैंने जन्म लिया । वह दिवस अधन्य (अमङ्गलमय) था, जिस दिन मेरी माँने मुझे प्रजनित किया··। क्या इस हेतु ही मैं कोखसे बाहर आया ? (क्लेशतप्त) पीड़ाएँ और संताप देखनेके लिये, जिसके कारण मेरे दिवस लज्जायुक्त व्यतीत होते हैं !'

४. 'Would any man of sound understanding who has lived long enough and has meditated on the worth of human existence care to go again through life's poor play ? I do not say on the same conditions, but on any conditions whatever ?

'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते।'

(हितोपदेश, प्रस्ताविका ३३)

'पूर्व-जन्ममें किया हुआ जो कर्म है, वही (इस जन्ममें) दैव (भाग्य) कहा जाता है।'

तत्परिणामस्वरूप यह असम्भव है कि जो उत्पन्न हुआ है, वह मृत्युको प्राप्त न हो—

'All that has a beginning must have an end.'

(विनय-महावग्ग ६ । ३५ । ६)

आरम्भका विनाश टल नहीं सकता । हम एक-न-एक दिन मृत्युका ग्रास बनकर रहेंगे। तदुपरान्त फिर किसी दिन जन्मेंगे, फिर किसी दिन मरेंगे—

To everyone comes the unseen, deceiving Astivihad (death), who accepts neither compliments, nor bribe, who is no respector of persons, and ruthlessly makes men perish.—Aogemadaecha 70 / 3.

'प्रत्येक व्यक्तिके पास आता है—अदृष्ट, छलना करता हुआ मरण, जो न तो अभिवादन, कीर्तिवाचन या प्रशस्तिगान स्वीकार करता है और न (अनैतिक उपहार) उत्कोच ही, जो मनुष्योंका (किंचिन्मात्र) पक्षपाती नहीं है और निर्ममतापूर्वक मानवोंको विनष्ट कर देता है।'

इस परिवर्तनशील, दुःखमय और इन्द्रियगम्य जगत्के जन्म-मरणरूप उकता देनेवाले आवागमनसे हमें छुटकारा मिले तो कैसे ?

इन विषम परिस्थितियोंमें संसारके इस भयानक जंगलके अन्तर्गत वर्णनातीत और कटु दुःख-कष्टोंकी निरङ्कुशताके मारे वेगपूर्वक आवागमनसे थककर चूर हो जानेसे उद्विग्न, गिरते-पड़ते, इधर-उधर भटक रहे जनसमुदायको अमर बना देनेवाले अमृतकी खोज करनेमें देर नहीं लगानी चाहिये । एकमात्र अमृत (परमात्मा) ही हमें परमानन्दमय अनन्त जीवन प्रदान कर सकता है।

परमानन्दमय अनन्त जीवनके प्रदाता इस अमृतके लिये हमें कहीं भटकनेकी भी आवश्यकता नहीं है। हम भटकते रहे हैं, इसीलिये अमृतत्व-प्राप्तिका स्वप्न आजतक साकार नहीं हो पाया; क्योंकि अमृत, मृगकी नाभिमें कस्तूरीके समान, हमारे अन्तरतममें विद्यमान है, जिसे अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। इधर-उधर भटककर तो हम अपनी मूढ़ताका ही परिचय देंगे।

हम पूछ सकते हैं कि अमृत हमारे अन्तरतममें किस प्रकार विद्यमान है ? उत्तर यह है कि मनुष्यको अमृतत्वकी प्राप्ति आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंका विनाश हो जानेपर होती है। यह केवल तभी सम्भव है, जब हम परमात्माको जान लेंगे, उनका दर्शन प्राप्त कर लेंगे। परमात्माको जाने बिना दुःखोंका विनाश कदापि सम्भव नहीं—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । २०)

'जिस समय लोग चमड़ेकी भाँति आकाशको लपेट लेंगे, उस समय उस देव (परमात्मा)को न जानकर भी दुःखका अन्त हो जायगा।'

यही कारण है कि धर्मात्मा पुरुष अनेकानेक कार्योंका नित्यप्रति सम्पादन करता हुआ भी परमेश्वरके चरणकमलोंके ध्यानमें उसी प्रकार मग्न रहता है, जिस प्रकार विभिन्न लयों और तालोंके अनुसार नृत्य करती हुई नर्तकी अपना ध्यान सिरपर रखे हुए घड़ेपर केन्द्रित रखती है—

पुङ्खानुपुङ्खविषयानुपसेवमानो
धीरो न मुञ्चति मुकुन्दपदारविन्दम् ।
संगीतवाद्यलयतालवशंगतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥

यह परमात्मा ही प्राणियोंको अपनी प्रतीति अप्रसिद्ध, दुर्विज्ञेय, अतिदूर तथा अन्य-सी न होने देनेके लिये दयावश उनके शरीरोंके अंदर अंशरूपमें आत्मा बनकर विराजमान है। यह बात दूसरी है कि उसके इस प्रकार साथी और सहवासी होते हुए भी अविद्याकल्पित नाम-रूपके भेदसे बुद्धिके भ्रमित हो जानेके कारण अविवेकी बने हुए मनुष्यको वह प्रसिद्ध, सुविज्ञेय, अत्यन्त समीप और आत्मस्वरूप न प्रतीत होता हो—

'अविद्याकल्पितनामरूपविशेषाकारापहृतबुद्धित्वादत्यन्तप्रसिद्धं सुविज्ञेयमासन्नतरमात्मभूतमप्यप्रसिद्धं दुर्विज्ञेयमतिदूरं अन्यदिव च प्रतिभात्यविवेकिनाम् ॥'

(आचार्य शंकरकृत गीताभाष्य १८ । ५०)

तात्पर्य यह है कि हमारे शरीर देवालय हैं और इस देवालयमें प्रतिष्ठित जीवात्मा स्वयं सदाशिव है—

'देहो देवालयो देवि जीयो देवः सदाशिवः ॥'

(कुलार्णवतन्त्र ९ । ४२)

और भी देखिये—

Though God is everywhere present, yet He is only present to thee in the deepest and most central part of the soul.

'यद्यपि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, तथापि वह तेरे लिये केवल तेरे आत्माके सबसे गहरे और केन्द्रीय भागमें ही उपस्थित है।'—विलियम लॉ

There is a principle......placed in the human mind, which in different places and ages hath had different names; it is, however, pure and proceeds from God. It is deep and inward.

'मानव-मान मनमें एक ऐसा तत्त्व रखा हुआ है, जिसके विभिन्न कालों और देशोंमें यद्यपि विभिन्न नाम रहे हैं, तथापि वह विशुद्ध है और परमात्मासे निकला है। यही नहीं, वह गम्भीर और आन्तरिक है।'—जॉन वूलमैन

In this deepest, most inner and secret depth of the soul God essentially, really and substantially exists.

'आत्माकी इस गम्भीरतम, आन्तरिकतम और गुप्ततम गहराईमें परमात्मा सारतः, वस्तुतः विद्यमान रहता है।—टौलर

यह हृदय-स्थित परमात्मा ही 'अमृत'-पदबोध्य है। अर्थात् जो इसको हृदय—शुद्धबुद्धिसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं[५]। वह इस प्रकार कि (स्वार्थपूर्ण) संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका निःशेषतापूर्वक (वासना और आसक्तिके साथ) परित्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे भलीभाँति वशमें कर, धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए उपरामताको प्राप्त मनुष्य अपने मनको जब, किसी अन्य वस्तुका चिन्तन न करते हुए स्थिर बुद्धिकी सहायतासे केवल आत्मामें स्थित करते हैं, तब विगतकल्मष (पापरहित) हो जानेके कारण वे आत्माको निरन्तर योगमें लगाते हुए सरलतासे ब्रह्मके साथ निकट सम्पर्कका सुख प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये और भी कि सर्वत्र निरपवादरूपसे समभाव रखने और सब भूतोंमें आत्माके तथा आत्मामें सब भूतोंके दर्शन करनेके कारण परमात्मा उस योगयुक्तात्मा-

५. तुलनीय—हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४ । २०)

'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' (केनोपनिषद् २ । ५) 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् १ । ६), 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ४ । १४), 'निचाय्य...' (कठोपनिषद् १ । १ । १७)।

से कभी दूर नहीं होते और वह परमात्मासे कभी दूर नहीं होता ।

आत्मलाभसे बढ़कर ऊँची वस्तु और कोई नहीं है—

'आत्मलाभान्न परं विद्यते ।'

(आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १ । ८ । २२२)

अतः सर्वप्रथम इसीके लिये महान् प्रयत्न कर लेना उचित है, अन्यथा पृथ्वीपर स्थायी निवासके लिये अपना एक घर बनानेमें और उसमें तरह-तरहका सामान सजानेमें किया गया हमारा परिश्रम हमें सिवा पछतावेके और कुछ भी न दे पायगा—

बालूका तू महल बनावे, कर कर जतन सामान सजावे ।
पलमें बरखा आय गिरावे, हाथ मसल रह जायगा ॥

ईश्वरीय राज्यकी सदस्यता प्राप्त करके ही हम सफल-जीवन हो सकते हैं; अन्यथा मृत्युद्वारा महान् विनाश संदेहका विषय नहीं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ॥

(केनोपनिषद् २ । ५)

विरह-व्यथा

ऊधो ! मोहन-मोह न जावै ।
जब-जब सुधि आवति है रहि-रहि,
तब-तब हिय बिचलावै ॥
बिरह-बिथा बेधति है उर बिच,
पल छिन, चैन न आवै ।
काह करौं कित जाउँ कौन बिधि,
तनकी तपनि बुझावै ॥
व्याकुल ग्वाल-बाल अति दीखत,
ब्रजबनिता घबरावै ।
गाय-बच्छ डोलत अनाथ सम,
इत उत हाय, रँभावै ॥
कंसत्रास भीषण लखि सिगरो,
धीरज छूटो जावै ।
कौन बचाव करैगो, अब तो,
यह दुख असह लखावै ॥
जबलौं अवधि कंस-गृह पूरी,
करिकैं मोहन आवै ।
तबलौं कौन उपाय करैं हम,
कोऊ नाहिं बतावै ॥

—श्रीलतीफ़ हुसैन

६. संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः । मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः । सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६ । २४-२७, २९-३०)

महाभारतकी ऐतिहासिकता

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इधर कुछ दिनोंसे प्रायः सभी समाचारपत्रोंमें 'महाभारतकी ऐतिहासिकता'पर जटिल विवाद उठ खड़ा हुआ है तथा प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओंके परस्पर-विरुद्ध मत प्रकाशित हो रहे हैं। महाभारतकालपर भी इनमें मतैक्य नहीं है और प्रायः दो हजारसे पाँच लाख वर्षोंतककी खींचातानी कर इसे अर्वाचीन या प्राचीन घटना माना जा रहा है। कुछ लोग महाभारत-युद्ध कभी हुआ ही नहीं, यह मत भी व्यक्त कर रहे हैं। यद्यपि यह विवाद सर्वथा नया नहीं है और गीताप्रेससे महाभारतके जो कई प्रकारके संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनकी भूमिकाओं तथा 'महाभारत-परिचय'के कुछ स्वतन्त्र लेखोंमें इसपर पहले भी विचार हुआ है। पर चूँकि यह विवाद पुनः नये रूपसे उपस्थित हुआ है, अतः यहाँ भी अत्यन्त संक्षेपमें कुछ निवेदन किया जा रहा है।

इतिहास क्या है ?—

इति+ह+आस—यह घटना इस प्रकार हुई, यह इतिहासका व्युत्पन्नार्थ है। संस्कृतमें 'ह'का अर्थ भी इतिहास है। प्रायः अधिकांश स्थलोंपर 'ह'का अर्थ यही किया गया है। [द्रष्टव्य गीताप्रेससे प्रकाशित—वाल्मीकि-रामायण (अंग्रेजी-अनुवाद) १।१।४०, ५५, ५८, ८५ आदि] आचार्य शंकरने बृहदारण्यक (१ । ३ । १)के **'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च'**के भाष्यमें लिखा है—**'ह इति पूर्ववृत्तावद्योतको निपातः।'** अर्थात् 'ह' पूर्ववृत्त—इतिहासका सूचक निपात है। ऐसा ही उन्होंने उपनिषद्भाष्यमें प्रायः सर्वत्र लिखा है। इससे वेदोंमें भी इतिहास सिद्ध है। 'ऐतिह्य' शब्द भी इसी प्रकार बना है, जो प्रमाणोंमें परिगणित होता है—**'ऐतिह्यमनुमानं च प्रत्यक्षमपि चागमम्।'** इन्हीं कारणोंसे निरुक्त, श्रीविष्णुधर्मोत्तरमहापुराण, शुक्रनीति, मन्दार-मरन्दचम्पू आदिमें प्रायः इतिहासकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां शास्त्रं स्यादुपदेशकम्।
पूर्वैराचरितं सद्भिर्धर्मकामार्थसाधकम्॥
मोक्षस्य यत्रोपन्यास इतिहासः स उच्यते।
(श्रीविष्णुधर्मो० ३ । १५ । १)

अर्थात् धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टयके उपदेशसे संयुक्त बीती हुई घटनाओंके कथावृत्तको इतिहास कहा जाता है—**'इति ह पारम्पर्योपदेशोऽव्ययम्।'** इस दृष्टिसे पवित्र श्रीमद्रामायण तथा महाभारत सर्वोत्कृष्ट इतिहास हैं। अमरसिंहके **'इतिहासः पुरावृत्तम्'** एवं **'पुराणं पञ्चलक्षणम्'** या **'वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्'**—इस प्रसिद्ध पुराण-परिभाषाके अनुसार वंशवृत्त होनेसे पुराण भी आंशिक इतिहास हैं। 'एफ० ई० पार्जिटर'ने प्रायः सभी पुराणोंमें तुलनात्मक वंशसूचियोंका अध्ययन कर—The Purana text of the dynasties of Kali age, Ancient Indian genealogies and chronology तथा The North Panchala Dynasty आदि पुस्तकों एवं निबन्धोंमें कौरवों एवं पौरवोंसे ही प्रारम्भ कर प्रायः सभी राजाओंकी वंशसूची तैयार कर राज्यत्वकाल निर्धारित किया है और प्रायः इसी आधारपर भारतके सभी प्राचीन इतिहास लिखे गये हैं। प्रायः १८०० से १९०० ई०तक पाश्चात्त्योंने सभी भारतीय प्रसिद्ध ग्रन्थोंके चार-चार पाठान्तर-सहित अनूदित संस्करण भी प्रकाशित कर दिये थे, तथापि 'पार्जिटर'ने अपने प्रबन्धोंके लेखनमें केवल भारतीय संस्करणोंका ही उपयोग किया था। 'Dynasties of Kali age'के पृष्ठ ५८पर **Chronological and Astronomical particulars**

(ऐतिहासिक एवं ज्योतिर्गणितसम्बन्धी विशेष सूचनाएँ) प्रकरणके प्रसङ्गमें सभी पुराणोंमें मिलनेवाले इस श्लोकको उद्धृत किया गया है—

महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः ।
एवं वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम् ॥
(वायुपु० ९९ । ४१५)*

जैसे गुरु एक राशिमें एक वर्ष रहते हैं, वैसे सप्तर्षिगणका एक नक्षत्रमें रहनेका समय सौ वर्ष माना गया है—

सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम् ।
(वायुपु० ९९ । ४१९, ब्रह्माण्डपु० ७४ । २२०)

परीक्षित्‌के जन्मके समय सप्तर्षिगण मघा-नक्षत्रपर थे और नन्दके अभिषेकके समय उत्तराषाढ़पर; इस प्रकार इनके काल-निर्णयमें भी किसी प्रकारका संदेह नहीं है। वाराहमिहराचार्यने भी अपनी प्रसिद्ध 'बृहत्संहिता'में सादर लिखा है—

आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्‌द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥
एकैकस्मिन्नृक्षे शतं शतं ते चरन्ति वर्षाणाम् ।
प्रागुत्तरतश्चैते सदोदयन्ते ससाध्वीकाः ॥
(१३ । ३-४)

महाराज युधिष्ठिर जब पृथ्वीका शासन कर रहे थे, उस समय सप्तर्षिगण मघानक्षत्रपर विराजमान थे। उनका शासनकाल २५२६ शक-संवत्सर कहा जाता है। सप्तर्षिगण एक-एक नक्षत्रपर सौ-सौ वर्षतक ठहरते हैं। ये सदा सती अरुन्धतीसहित पूर्वोत्तर कोणपर उदित होते हैं। इनका मान अगले दोनों नक्षत्रोंसे ग्रहण किया जाता है। (द्रष्टव्य—विष्णुपुराण ४। २४। १०५ आदि)

पाश्चात्त्य दृष्टिकोण—

'हैरिसन'का 'The use of History' निबन्ध प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने इतिहासके सभी पहलुओं एवं उपयोगिताओंपर विचार किया है। पाश्चात्त्योंके अनुसार इतिहासकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—'A History is the narration of facts and events arranged chronologically with their causes and effcets'. अथवा—

'A History is record of events connected with any nation or thing.'

अर्थात् किसी राष्ट्रकी क्रमबद्ध घटनाओंका तिथि, कारण एवं परिणामसहित उल्लेख इतिहास है, किंतु ऊपर यह बात स्पष्टरूपसे प्रदर्शित की जा चुकी है कि महाभारत नामक इतिहासमें (जिसका हरिवंश भी खिलपर्व है) भारतकी सभी ऐतिहासिक घटनाओंका समय युग-कल्पपूर्वक निर्दिष्ट है। यह समझना कि सारा विश्व दो हजार वर्षोंका ही है, विचारसंकीर्णतामात्र है। प्रायः सभी पुराणोंमें श्रीरामावतारको वैवस्वत मन्वन्तरके चौबीसवें त्रेतामें बतलाया गया है और श्रीकृष्णावतारको अट्ठाईसवें द्वापरमें। इसी आधारपर 'कल्याण'के प्रथम पृष्ठपर श्रीकृष्ण-संवत् ५२०१ लिखा जाता है और मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको प्रतिवर्ष गीता-जयन्ती भी मनायी जाती है। महाभारतमें विस्तारसे इन घटनाओं एवं नक्षत्र, तिथि-योगोंका शकुनादि रूपसे उल्लेख है तथा 'Proceedings and Transaction of Oriental conference 1943-44'में इस विषयपर पाँच-छः शोधपूर्ण लेख भी प्रकाशित हैं।

निष्कर्ष—

इन्हीं प्रमाणपुष्ट कारणोंसे समस्त भारतीय वाङ्मयमें महाभारतको इतिहास नामसे ही पुकारा गया है—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम् ॥
(महा० आदि० १ । ८७)

'यह महाभारत-इतिहास एक जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोहका अन्धकार मिटाकर लोगोंके अन्तःकरणरूप सम्पूर्ण अन्तरङ्ग-गृहको भलीभाँति ज्ञानालोकसे प्रकाशित कर देता है।'

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥
(महा० आदि० २ । ३८५)

* प्रायः यही भाव मत्स्यपु० २७३ । ३६, ब्रह्माण्डपु० ३ । ७४ । २२७, विष्णुपु० ४ । २४ । १०४ आदि स्थलोंपर भी उपलब्ध होता है।

जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूतोंसे त्रिगुणात्मिका सृष्टिका विस्तार होता है, उसी प्रकार इस उत्तम इतिहाससे लोग पण्डित एवं कवि बनते हैं। इतना ही नहीं, इसे (महाभारतको) विश्वके इतिहासोंमें भी सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जैसे दहीमें मक्खन, द्विपदोंमें ब्राह्मण, वेदोंमें बृहदारण्यकादि उपनिषद्, ओषधियोंमें अमृत, जलाशयोंमें समुद्र और चौपायोंमें गौ श्रेष्ठ है, वैसे ही विश्वके सारे इतिहासोंमें यह महाभारत श्रेष्ठ है—

नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा॥
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम्॥
अथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते।
(महा० आदि० १। २६४-६६)

महाभारतमें पुराणोंके पाँचों लक्षण उपलब्ध होते हैं, इसलिये इसे पुराण भी कहा गया है और इसकी उपमा पूर्णचन्द्रसे दी गयी है—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत् प्रकाशनम्॥
(महा० आदि० १। ८६)

यह इतिहासरूप प्रकाशपूर्ण चन्द्रमा सज्जनोंकी बुद्धिरूपा कुमुदिनीको प्रकाशित करनेवाला है। प्रायः यही बात वायुपुराणके १। ४४-४५में कही गयी है—

मतिं मन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात्॥
प्रकाशं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमाः।

'हैरिसन'के मतानुसार इतिहासके जो पचास श्रेष्ठ उपयोग हैं, उनमें महान् पुण्य तथा परमसूक्ष्मेक्षिका दिव्यदृष्टि या मुक्ति प्राप्त होनेकी बात नहीं कही गयी है, जो रामायण और महाभारतके पठन या श्रवणसे सहज सुलभ बतलायी गयी है; क्योंकि इनकी रचनामें ऋषियोंकी दिव्य ऋतम्भराप्रज्ञा कारण था—

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
पुण्याय वेदविदुषे च बहुश्रुताय।
पुण्यां च भारतकथां य इमां शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव॥
(महा० १४। १५०। ८०)

इसीलिये मन्वादिकोंने दैव तथा पितृ-कार्योंमें इन इतिहासोंके श्रवणका विधान किया है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥
(मनु० ३। २३२)

इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठं च सप्तमं नयेत्।
(दक्षस्मृति)

कूटनीतिपूर्ण एवं अनार्ष होनेसे आजकलके इतिहास तो विश्वासके योग्य भी नहीं हैं। इसीलिये पाश्चात्त्योंद्वारा लिखित भारतके इतिहास स्वयं उनके प्रकाशकोंद्वारा ही बदले जा रहे हैं। (द्रष्टव्य—आक्सफोर्ड इतिहासका नवीनतम संस्करण)

पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने इसी संदर्भमें सद्यः-प्रकाशित अपने एक वक्तव्यमें ठीक ही कहा है कि 'व्यास-वाल्मीकि अलौकिक महर्षि थे। वे सर्वत्र अबाधगति-दृष्टिसम्पन्न थे। उन्हें अतीत, अनागत, व्यवहित, विप्रकृष्ट, संनिकृष्ट सभीकी पूर्ण जानकारी थी। आज लोग लंकाको मध्यभारतमें बतला रहे हैं, शतयोजन समुद्रको दो सौ गजकी तलैया ही मान रहे हैं। यह तो मनन-पठनसे भागनेका बहानामात्र ही कहा जा सकता है। अतः रामायण-महाभारतकी बातोंका निर्णय उन्हींके आलोडन-मननसे होगा, उनके विरुद्ध सोचने-चलनेसे नहीं।'

वास्तवमें '**यन्न भारते तन्न भारते**'के अनुसार इसमें है तो सब कुछ, पर जो जिज्ञासु सज्जन इसका स्वयं पारायण न कर विदेशियोंकी ईर्ष्यापूर्ण तथा भारतको परतन्त्र बनाये रखनेके उद्देश्यसे लिखी गयी आलोचनात्मिका टिप्पणियोंको पढ़कर इसे 'दो हजार वर्षमें ही सारे भूतकाल'के चश्मेसे देखेंगे, उन्हें तो शङ्का-पिशाची परेशान करेगी ही।*

* इस विषयमें अधिक जानकारीके लिये श्रीसुन्दरलालजीका 'भारतमें अंग्रेजीराज्य' तथा गीताप्रेससे प्रकाशित 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तकें देखनी चाहिये।

साधकोंके प्रति—

[सदा भगवान्‌का स्मरण कैसे हो ?]

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
(गीता ८ । ७)

तथा—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥
(गीता ८ । २७)

'अर्जुन ! तुम सब कालमें मेरा स्मरण करते हुए युद्ध (शास्त्रोक्त नियत कर्म) करो ।' इसी बातको दूसरे शब्दोंमें रखते हुए भगवान् कहते हैं कि "तुम सदैव 'योगयुक्त' बने रहो ।"

योगयुक्त होना क्या है ? योग समताका नाम है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(गीता २ । ४८)

'हे धनंजय ! तुम आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाले होकर योगमें स्थित हुए कर्तव्यकर्मोंको करो, समत्व ही योग कहलाता है ।'

समत्वरूप योग कैसे प्राप्त हो ? आसक्तिके त्यागसे अर्थात् सिद्धि-असिद्धि, सफलता-असफलता, हानि-लाभ आदि सभी द्वन्द्वोंमें सम रहनेसे समतारूप योगकी उपलब्धि होती है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
(गीता ४ । २२)

इस प्रकार समतारूप योगको प्राप्त पुरुष आसक्तिका त्याग करके बन्धनमें नहीं पड़ता; क्योंकि उसकी सिद्धि-असिद्धिमें रागात्मिका अथवा विद्वेषात्मिका बुद्धि नहीं होती, इसलिये वह (निर्दोष हुआ पुरुष) स्वतः परमात्मामें स्थित हो जाता है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(गीता ५ । १९)

साधकमें विषमता तो राग-द्वेषके कारण ही है, स्वतः तो वह समरूप पहलेसे ही है । योगयुक्त पुरुष सम एवं निर्दोष होता है । निर्दोषिता एवं समता ही ब्रह्मके लक्षण हैं । इसलिये योगयुक्त (पुरुष) स्वतः ब्रह्ममें स्थित है । जैसा कि ऊपर कहा गया है कि समताकी प्राप्ति होगी द्वन्द्वातीत होने अर्थात् सब प्रकारकी आसक्तिके त्यागसे । आसक्तिके त्यागका सुगम उपाय यह है कि साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बना ले । ऐसा लक्ष्य निर्धारित करते ही आसक्तिका नाश हो जाता है, साधकको उस समय चाहे इसका अनुभव हो या न हो ।

मनुष्य-शरीरकी महत्ता केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें ही है, इसका कोई अन्य प्रयोजन है ही नहीं । इस शरीरमें परमात्माने कृपा करके जो विवेकशक्ति और बुद्धि दी है, उनसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका साधन (प्रयत्न) न करके उन्हें लौकिक अर्थात् सांसारिक सुख-सुविधाओंकी खोज अथवा प्राप्तिमें लगाना उनका महान् दुरुपयोग है । परमात्माकी प्राप्तिका लक्ष्य बनानेसे भी श्रेष्ठतर है यह जान लेना कि हमारा (यह) लक्ष्य तो हमारे जन्मसे पहले ही बना हुआ था, तत्पश्चात् ही हमें मानव-जीवन मिला है । भगवान्‌ने यह साधन-धाम नरतनु दिया ही इसलिये है कि इसके द्वारा जीव अपना परम लक्ष्य प्राप्त कर लें । गीताका अमृतोपदेश सुनकर अर्जुन कहते हैं—

स्मृतिर्लब्धा । (१८ । ७३)

'स्मृति-लाभ हो गया'—यह स्मरण हो आया कि मनुष्य-देह प्राप्त करनेका उद्देश्य केवल परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति करना, अपने स्वरूपमें स्थित होना, अथवा स्वयंको पहचानना ही है ।

उपनिषद् कहती है—**'एकाकी न रमते ।'** (**महोपनिषद् १ । १**) आशय है, अकेलापन भगवान्‌को नहीं सुहाता । उन्होंने संकल्प किया— **'एकोऽहं बहु स्याम् ।'** अर्थात् मैं बहुत रूपोंवाला हो जाऊँ । क्यों ? इसलिये कि अकेले उनका मन नहीं लगता । वे लीला करना चाहते हैं, खेल खेलना चाहते हैं । खेलमें क्या होता है ? हार-जीत । पर हार-जीत तो असली महत्त्वकी वस्तु नहीं है । महत्त्व तो है खेलमें बढ़नेवाली परस्परकी प्रीतिका । इस प्रेम-वृद्धिके लिये ही भगवान्‌ने मनुष्योंकी रचना की ।

ब्रह्मवैवर्तपुराणके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णने दो रूप धारण किये—एक रूप श्रीजीका और एक स्वयं थे ही । किसलिये ? प्रीति-वृद्धिके लिये ! भक्त और भगवान् जब आपसमें खेलते हैं, तब प्रेम बढ़ता है ।

वैसे ही जीवोंकी कर्म करनेकी वासना (कार्य करनेका वेग) भी सृष्टि-रचना-रूप खेलका एक कारण कहा जाता है । कृपालु प्रभु भी इसी बातको लक्ष्य करके अर्जुनसे कहते हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
(गीता ३ । ४)

तथा—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
(गीता ६ । ३)

अर्थात् कर्मोंका स्वरूपसे त्याग निष्कर्मताकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, प्रत्युत योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले पुरुषको निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर कर्तव्यकर्ममें लगे रहना चाहिये; क्योंकि योगारूढ़ताकी सिद्धिमें कर्म कारण कहे गये हैं । निष्कामभावसे कर्म करते रहनेपर मनुष्यकी कर्म करनेकी वासना मिट जाती है और तब वह सम्यक् प्रकारसे योगमें स्थित हो जाता है ।

इस प्रकार जीवोंके मनकी वासना दूर करने-हेतु सृष्टिरचना हुई है अर्थात् सृष्टि-रचनाका उद्देश्य जीवोंको शुद्ध अथवा वासनारहित करनामात्र है । यह केवल कृपा ही तो है ? इस प्रकार बदलेमें बिना कुछ चाहे जीवमात्रकी भलाईमें संलग्न रहनेवाले प्रभु जीवमात्रके सुहृद् हैं—

'सुहृदं सर्वभूतानाम्............'(गीता ५ । २९)

इस खेलमें मनुष्यको उपकरणस्वरूप शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि प्राकृतिक वस्तुएँ मिलीं । मनुष्यने खेलमें मिली हुई इन ईश्वर-प्रदत्त वस्तुओंको अपना मान लिया (ममता कर ली) अथवा अपना ही स्वरूप मान लिया (अहंता कर ली) । इस प्रकार अंश और अंशीके बीच पर्दा पड़ गया । यह पर्दा आते ही राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व उत्पन्न हो गये ।

यदि मनुष्यको यह स्मरण हो जाय कि 'अपना' तो कुछ भी नहीं है, सब कुछ खेलके लिये ही मिला हुआ है तो उसका मोह नष्ट हो जाय, उसे स्मृतिका लाभ मिल जाय । ऐसा स्मरण होते ही मलिनता और आसक्ति नष्ट हो समताका आविर्भाव हो जाता है ।

संसारमें जो आकर्षण है, प्रियता है, यही तो आसक्तिका स्वरूप है । खेलमें खेलकी भावनासे पात्र बने रहो । इसी बातको भगवान् इस प्रकार कहते हैं—'योगयुक्त अर्थात् समतासे युक्त रहो ।' खेलमें प्रियता, आसक्ति न हो । खेल तो विनोदके लिये अथवा प्रेम-वृद्धिके लिये ही होता है, जीतमें आसक्ति और हारमें द्वेष क्यों होना चाहिये ।[1] इसीलिये वे सावधान करते हुए कहते हैं—

'सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव ।'

'हे अर्जुन ! तुम सतत योगयुक्त (समतामें स्थित) रहो ।' भगवान्‌के स्मरणमें संसारकी आसक्ति (जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना) ही तो बाधा है, जब

१. खेलमें जीतके प्रति राग होनेसे उसका स्वरूप जुआ (द्यूत-क्रीड़ा) का होता है ।

योग—समतामें स्थिति होगी, तब साधक अपने मनमें होनेवाली किसी स्फुरणासे चिपकेगा नहीं अर्थात् उसमें आसक्त नहीं होगा। जब आसक्ति ही नहीं होगी तो कोई स्फुरणा होनेपर भी भगवान्‌की विस्मृति कैसे होगी? स्वतः स्वाभाविक निर्लिप्तता बनी रहेगी। इसे पतिव्रता स्त्रीके उदाहरणसे समझना चाहिये। वह गृहस्थमें सास, श्वशुर, ननद, देवर आदि सभीकी सेवा केवल पतिके सम्बन्धसे उसीकी प्रसन्नताके लिये गृहस्थ-धर्मके अनुसार करती है। इससे उसका पातिव्रत-धर्म भङ्ग नहीं होता। घरेलू काम-काज करते हुए मनमें लगातार पतिका स्मरण न रहनेपर भी उसको 'मैं पतिकी हूँ' यह विस्मरण नहीं होता; किंतु यदि उसकी आसक्ति कहीं अन्यत्र हो जाती है अथवा किंचिन्मात्र भी 'पर'का स्फुरण हो जाता है तो उसका पातिव्रत भङ्ग हो जाता है।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका ऐसा ही उद्देश्य होना चाहिये। यदि पतिव्रताके मनमें ऐसी स्फुरणा हो कि 'मैं पतिकी नहीं हूँ,' अथवा 'मैं कहीं अन्यत्र सुख भोगूँ' तो यह उसकी भूल होगी। 'मैं पतिकी नहीं हूँ'—यह भूल 'अहंता'-में आयी और 'कहीं अन्यत्र सुख भोग लूँ'—यह भूल 'ममता'में आयी। ये दोनों भूलें यदि पतिव्रतामें नहीं हैं और वह गृहस्थ-धर्मका पूर्णरूपसे निर्वाह करती है तो निश्चय ही 'निर्मम एवं निरहंकार'की श्रेणीमें आती है। ममता और अहंकारसे रहित पुरुष योगयुक्त कहलाता है। योगयुक्तको भगवान्‌की स्मृति स्वतः रहती है। साधकको सदैव स्मरण रखना चाहिये कि उसका सारा कार्य, जीवन, चेष्टाएँ प्रभुके लिये ही हैं, प्रभुके अतिरिक्त उसका दूसरा कोई उद्देश्य है ही नहीं।

जगज्जननी सीताजी श्रीरामजीके साथ वन जानेको उत्सुक हैं। माता कौसल्या उन्हें समझाती हैं, श्रीरामजी भी समझाते हैं; वहाँ वात्सल्य और प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ा है, परंतु जानकीजीका उत्तर है—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
(मानस २। ६४। ३-४)

किसी भी राजसी ऐश्वर्य और वैभवमें सीताजीकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं है। उनका एक ही व्रत, धर्म, नियम है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
(मानस ३। ४। १०)

कहनेका भाव यह है कि उनका प्रभु-चरणोंमें विशुद्ध प्रेम है, निज-सुख-प्राप्तिकी कोई भावना नहीं, किंचित् स्फुरण भी नहीं। केवल सेवाका ही भाव है, जिसके वश होकर वे श्रीरामजीके साथ वन जाना चाहती हैं—'जब श्रीरामजी थक जायँगे, तब शीतल हवा करूँगी, गोदमें सिर रखकर निद्राका सुख दूँगी, मार्गसे कण्टक हटा दूँगी, साथरी बिछा दूँगी, पैर दबाऊँगी, थकानका अनुभव नहीं होने दूँगी' आदि।

जीवका भी परमात्माके प्रति ऐसा ही भाव होना चाहिये कि 'मेरा सारा कार्य-व्यापार प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही होगा, केवल उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ही सारी चेष्टाएँ होंगी, उनके ही सुखका चिन्तन रहेगा, अपने सुखका नहीं।' सांसारिक सुखोंमें उसकी लेशमात्र भी आसक्ति नहीं रहती। संसारमें सुख है ही कहाँ? यदि कोई माना हुआ सुख है भी तो वह टिकेगा नहीं। इसलिये सांसारिक द्वन्द्वोंमें सम रहना ही उचित है और यही योगयुक्त पुरुषका लक्षण है। समतारूप योगमें स्थित रहनेसे भगवान्‌की (लक्ष्यरूपसे) सदैव स्मृति बनी रहेगी।

अमृत-विन्दु

१–संसारको 'यह' एवं परमात्माको 'वह' कहा जाता है, परंतु परमात्मा 'यह' है तथा संसार 'वह'। वास्तवमें तो संसार 'वह' भी नहीं है—है ही नहीं अर्थात् उसका सर्वथा अभाव है। केवल परमात्मा ही हैं।

* * *

२–शरीरको यदि 'अपना' मानकर देखते रहोगे तो संसार ही दीखेगा, इसे (जो वस्तुतः अपना है भी नहीं) 'अपना' न मानकर देखोगे तो सर्वत्र एक परमात्मा ही दृष्टिगोचर होंगे।

* * *

३–मनमें जबतक कामनाका निवास होगा, तबतक आप दरिद्र रहेंगे ही, यह अकाट्य सिद्धान्त है।

* * *

४–हृदयसे असमर्थ होते ही हम सर्वसमर्थकी सामर्थ्यके अधिकारी हो जाते हैं।

* * *

५–जैसे बच्चा माता-पिताका 'अपना' होता है, वैसे ही हम भगवान्‌के 'अपने' हैं। उनकी शरण भी प्राप्त नहीं करनी है, वह तो स्वतः प्राप्त है; हमें तो बस, उसे स्वीकारमात्र कर लेना है।

* * *

६–जीभसे हर समय—सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, जीविकोपार्जन-हेतु कार्य करते पवित्र भगवन्नामका जप करते रहो। जागनेसे लेकर सोनेके समयतक प्रत्येक पाँच-पाँच, दस-दस मिनटपर भगवान्‌को मानसिक प्रणाम कर कातर प्रार्थना करो—'हे प्रभो! मेरा केवल आपमें प्रेम हो जाय, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ भी नहीं चाहिये।' यह प्रभु-प्रेम-प्राप्तिका अमोघ उपाय है, करके देखो।

* * *

७–जैसे अपने आराम, सुख, हितके लिये स्वयमेव चेष्टा होती है, ठीक वैसे ही जीवमात्रके आराम, सुख और हितके लिये मन, कर्म, वचनसे चेष्टा होनी चाहिये, 'सर्वभूतहिते रताः'का यही तात्पर्य है।

* * *

८–हमलोग संसारकी कामना रखते हुए ही परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं, यही सबसे बड़ी भूल है। वह परमात्मा अद्वितीय है, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा भी तो अद्वितीय (अनन्य) ही होनी चाहिये।

* * *

९–संसारमें प्रत्येक वस्तुका कोई-न-कोई मालिक है, अतः हमारा भी कोई मालिक अवश्य होगा—वही परमात्मा, अल्लाह, गॉड आदि विभिन्न नामोंसे पुकारा जाता है।

* * *

१०–शरणागति क्या है? 'हम आपके और आप हमारे'—बस, इतनी ही तो बात है।

'जाही विधि राखे राम, ताही विधि रहिये।
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

वे कहाँ हैं ?

मर्मभेदी रुदन-स्वरोंके मध्य स्तब्ध-सा खड़ा वह सात वर्षीय बालक नलिन कुछ भी नहीं सोच पा रहा था। जैसा उसका शरीर नन्हा था, वैसी ही नन्ही उसकी बुद्धि भी थी; फिर भी पिताकी लंबी बीमारीके कारण छोटे-मोटे उत्तरदायित्व निबाहते रहने तथा अपने परिवारमें एकमात्र पुरुष होनेके कारण वह समझ रहा था कि अब उसके ऊपर बहुत-सा उत्तरदायित्व आ पड़ा है। आज उस क्षणको याद कर वह आश्चर्य करता है कि उस छोटी आयुमें वह अपनेको किस तरह इतना बड़ा समझ सका था। इस बीमारीने उसके पिताके प्राण ही नहीं लिये थे, अपितु घरकी सारी पूँजी भी निगल ली थी। वह मानता था कि दुःखमें बेसुध माँ और अपनेसे छोटी दो बहनोंके भोजनका प्रबन्ध भी उसे ही करना पड़ेगा। पंद्रह दिन पहले ही किताबें न जुटा सकने और फटे कपड़े पहनकर आनेके कारण उसे विद्यालयसे निकाल दिया गया था। प्रिय विद्याध्ययनके छूट जानेका दुःख तो उसे साल ही रहा था, इसी बीच पिता भी बिछुड़ गये। दो दिनके भोजनका प्रबन्ध भी घरमें पड़ी पुरानी पत्रिकाओंको बेचकर हो पाया था। उसके बालक-मनको कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था।

कुछ दिन पड़ोसियोंकी दयापर बीत गये। दुखिया माँने नन्हे बच्चोंका मुख देखकर हिम्मत बाँधी और काम खोजने निकल पड़ी, किंतु काम मिलना भी इतना सरल न था, इसलिये नन्हे नलिनको भिक्षापात्र अपनाना पड़ा।

शुभ्र ललाट, श्वेत केश-दाढ़ी एवं गेरुए वस्त्रवाले एक संन्यासी इस गौराङ्ग उच्चवंशीय और तीव्र-बुद्धि-से प्रतीत होनेवाले बालककी विचित्र नतमुखी भिक्षायाचन-विधिको कई दिनोंसे देख रहे थे। बीच-बीचमें वे देखते कि बालक आस-पास पड़े समाचारपत्रोंके टुकड़ोंको उठाकर पढ़ा करता है। पंद्रहवें दिन उनसे न रहा गया। बालकके समीप जाकर उससे पूछ बैठे—'बच्चे ! तुम्हें भिक्षा चाहिये या विद्या ?'

बालकने झुकी आँखें उठाकर उन साधुकी ओर देखा, किंतु उस गूढ़ प्रश्नको न समझ सकनेके कारण उत्तर नहीं दिया। वृद्ध संन्यासीने अपनी भूल समझी और एक बार फिर सरल भाषामें प्रश्न किया—'बच्चे ! तुम विद्यालय-में पढ़ना चाहते हो न ?'

नलिनने सिर हिलाकर हामी भर दी।

'चलो, मुझे अपने माता-पिताके पास ले चलो।' संन्यासीने कहा।

बालक संन्यासीकी अँगुली पकड़कर अपने घर ले गया। संन्यासीने स्थिति समझ ली और माँको राजी कर लिया कि वह अपनी आयसे तबतक अपना भरण-पोषण करेगी, जबतक कि वे (संन्यासी) नलिनके विद्याध्ययनका उत्तरदायित्व लेंगे।

नलिन फिर विद्यालय जाने लगा। वे संन्यासी प्रतिमास पढ़ाईकी आवश्यकताभर धनराशि उसे दे जाते थे। तीक्ष्ण बुद्धि और कठिन परिश्रमकी सहायतासे वह सदैव कक्षामें प्रथम स्थान प्राप्त करता गया। कुछ वर्षों बाद बाबा उसे रुपये ले जानेके लिये अपनी कुटियापर बुलाने लगे। वे घास-फूससे छायी एक छोटी-सी कुटियामें रहते थे। बीचमें धूनीके पास वे बैठे मिलते। कम्बल, कमण्डलु, एक घड़ा एवं दो-चार बर्तन—यही उनकी सम्पत्ति थी। किशोर नलिनके मनमें जिज्ञासा होती कि रुपये आते कहाँसे हैं ? किंतु वह बाबासे यह प्रश्न कभी पूछ न सका, केवल मनमें यही संकल्प दोहराता कि बड़ा होकर नौकरी पानेपर मैं बाबाका पैसा-पैसा चुका दूँगा।

नलिनके बी० ए० पास करनेतक यह क्रम चलता रहा। ज्यों-ज्यों आवश्यकता बढ़ती गयी, बाबा अधिक रुपये देते गये। कुशाग्रबुद्धि नलिन बी० ए०के बाद ही भारतीय शासकीय सेवा (आई० ए० एस्०)-की प्रतियोगितामें सफल रहा। प्रशिक्षणके लिये मंसूरी जानेसे पहले वह बाबाके पास गया और उसने सौ रुपये उनके चरणोंमें रख दिये। 'प्रशिक्षणके बाद देना' कहकर बाबाने रुपये वापस कर दिये।

दो वर्षका प्रशिक्षण समाप्तकर नलिन फिर बाबाका दर्शन करनेके लिये गया, किंतु कुटिया सूनी पड़ी थी। कोई नहीं जानता था कि वे कहाँ चले गये। नलिनने उन्हें खोजनेमें

अपनी पूरी सामर्थ्य लगा दी, कोई साधन न छोड़ा; किंतु वे न मिले।

आठ साल बाद नलिनकी नियुक्ति दिल्ली केन्द्रीय सचिवालयमें हुई। एक दिन कारिडोर (बरामदे)में अकस्मात् वे (संन्यासी) दिखायी दे गये। वही भव्य रूप, केवल दाढ़ीके केश कुछ लंबे हो गये थे। नलिन वहीं उनके पैरोंसे लिपट गया—'बाबा घर चलो। बच्चोंको आशीर्वाद दो। कुछ सेवाका अवसर दो'''।' वह एक ही साँसमें कहता चला गया।

'बच्चे! मकानका पता दे दो। सुविधा होनेपर स्वयं आऊँगा। तुम प्रसन्न हो न ?'

'हाँ बाबा, आपकी कृपासे जीवनमें सब कुछ मिल गया, अब तो सेवाका अवसर चाहता हूँ।'

'बहनोंका विवाह हो गया ?'

'अभी नहीं।'

उसके बाद वे फिर न दिखायी दिये। नलिन आजतक उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। वह समझ गया है, रुपये उन्होंने वापस लेनेके लिये नहीं दिये थे। अब तो वह उनकी चरणधूलिसे घरको पवित्र करना चाहता है।

—कान्ति त्रिवेदी

(२)

माँकी अनुकम्पा

घटनाको घटे बहुत समय हो गया। हमलोग लाहौर (पाकिस्तान)से प्रतिवर्ष जम्मू वैष्णवीदेवीकी यात्राको जाया करते थे। माँके दर्शन तो मिलते ही, हरी-भरी पहाड़ी घाटियोंका भ्रमण और शुद्ध जलवायुका लाभ भी मिल जाता।

एक बार हमारे एक पड़ोसी मित्रका कुटुम्ब भी हमारे साथ चल पड़ा। उनमें एक अस्सी वर्षीया बुढ़िया भी थी। जम्मूसे तीस किलोमीटर आगे 'कटयानगर'से पैदल चलनेकी प्रथा थी। सभी लोग कूदते-फाँदते वैष्णवीमाताका जयघोष करते यात्रा करते थे। जो लोग चलनेमें असमर्थ होते अथवा जिनके साथ छोटे बच्चे या भारी सामान होता, उन्हें पिट्ठू (मजदूर) अथवा खच्चर-घोड़ा किराये-पर ले जाना पड़ता था। उस यात्रामें अब भी ऐसी प्रथा है।

हमलोगोंने सामान उठानेके लिये एक घोड़ा तथा बुढ़िया माईके लिये एक पिट्ठू किरायेपर कर लिया और शेष सब लोग पैदल चल पड़े। धार्मिक प्रवृत्तिके श्रद्धावान् लोग ही इस विकट मार्गकी यात्राको जाते थे, इसलिये भूल-भुलावेकी कोई सम्भावना न होती थी। यदि सङ्ग (दल)का कोई सदस्य मार्गमें आगे अथवा पीछे रह भी जाता तो उसे बिछुड़ जानेका भय न होता था।

हमलोग आधा मार्ग तय कर 'आधक्वारी' पड़ावपर पहुँचे तो 'पिट्ठू' बुढ़ियाको मुंडेर (पगडंडीके किनारे)-पर बैठाकर विश्रामके लिये कुछ दूरीपर जा बैठा। बुढ़िया भी लेटकर विश्राम करने लगी। मुंडेरके पीछे एक खाई थी, जो बहुत दूर नीचेतक चली गयी थी। बेचारी बुढ़ियाको उसका ज्ञान न था। उसने धीरेसे करवट ली—पीछे सरकी और लोगोंके देखते-देखते वह लुढ़कती हुई लगभग डेढ़-दो सौ मीटर नीचे एक वृक्षकी जड़के सहारे जा अटकी। देखनेवालोंने आवाजें लगायीं—'किसकी बुढ़िया है ? खाईमें गिर गयी ! बुढ़िया मर गयी !!'

हमारे सङ्गके लोग भी घटना-स्थलपर पहुँच गये और भयभीत एवं असहाय-दशामें देखने और तरह-तरहकी बातें कहने लगे—'अब क्या होगा ? माँकी क्या इच्छा है ? हाय ! उनके दरबारमें यह दुःख भी देखना था।'

सब लोग घटना-स्थलपर खड़े बातें कर रहे थे, परंतु खाईमें नीचे उतरनेका कोई साहस न करता था। यह देखकर मुझे किसी कविकी यह उक्ति याद आ गयी—

'साहल के तमाशाई, उस डूबनेवाले पर।
अफसोस तो करते हैं, इमदाद नहीं करते॥'

माँकी अनुकम्पा अपरम्पार है। दुःखको सुखमें बदलनेमें उन्हें क्षण भी नहीं लगता। कुछ ही क्षणोंमें एक अधेड़-सा युवक लाल रंगकी धोती बाँधे, शरीरपर रामनामी-दुपट्टा ओढ़े, पीठपर बुढ़ियाको उठाये आता दृष्टिगोचर हुआ। हमलोगोंके निकट पहुँचकर वह धीमे स्वरसे बोला—'यह है आपकी बुढ़िया माता।' और देखते-देखते हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया। उसे किसीने देखा और किसीने देखा भी नहीं। सभी लोग बुढ़ियाकी देख-रेखमें व्यस्त हो गये और विस्मित हुए कि बुढ़ियाको कहीं चोट नहीं आयी—कहीं खरोंचतक नहीं लगी। फिर सब लोग उस राम-नामी दुपट्टाधारीको ढूँढ़ने लगे—कोई आशीर्वाद देनेके लिये,

कोई पुण्य-दान करनेके लिये; परंतु वह तो कभीका आँखोंसे ओझल हो चुका था। फिर सबके मनमें आया कि वह कोई साधारण पुरुष नहीं हो सकता, जो इतनी विकट खाईसे बुढ़ियाको लाकर छोड़ जाय और बुढ़ियाको जरा भी चोट न लगने दे। अस्तु,

दुःखके क्षण व्यतीत हो गये थे। हम सभी लोग माँ वैष्णवीदेवीका जयघोष करते हुए उनके दरबारकी ओर चल दिये।

——श्रीधर्मदत्तजी चौधरी वैद्य

(३)

खीर गलेसे नीचे न उतरी

गुजरातीके प्रतिष्ठित कवि श्रीझवेरचन्द्रजीके पिता पुलिस-अधिकारी थे। एक बार उन्होंने एक प्रीति-भोज आयोजित किया, जिसमें गण्य-मान्य सरकारी अधिकारियोंको खीरकी दावत दी गयी।

दावत खीरकी हो या पूरी-पकवानकी, उसमें मुख्य भावना अहंकार-प्रदर्शनकी ही होती है। हर्ष और उल्लासके समय एक स्थानपर बैठकर भोजन करनेसे आत्म-सम्बन्ध बढ़ते हैं——यह सही है, किंतु परिवार, मित्र और सम्बन्धियोंकी संख्या इतनी नहीं हो सकती, जितनी प्रायः भोजोंमें आमन्त्रित होती है। मित्र, मित्रोंके भी मित्र; सम्बन्धी और सम्बन्धियोंके भी सम्बन्धी बुलानेका अर्थ यही तो होता है कि हम सैकड़ों लोगोंमें अपने धनाढ्य होनेकी शान जमाना चाहते हैं।

प्रीति-भोजोंमें खाद्यान्नकी कैसी दुर्दशा होती है, यह कौन सोचता है! सौ व्यक्तियोंकी दावतकी जूठन दस नये व्यक्तियोंके पेट भर सकती है। तब क्या भारी दावतोंकी व्यवस्था राष्ट्रिय-सम्पत्तिके साथ खिलवाड़ नहीं है? लोगोंके पेट और आदतें खराब होती हैं, अव्यवस्था और दूषित परम्पराएँ बढ़ती हैं, सो अलग। क्षुद्र-बुद्धि व्यक्ति उसका भला क्या अनुमान कर सकते हैं!

यह दावत भी विशुद्ध बाह्याडम्बर ही था। अपनी शान-शौकतकी मिथ्या वाहवाही लूटनेके लिये ही 'प्रीति-भोज' आयोजित किया गया था। अधिकारका रोब तो था ही। पासके जितने भी गाँव थे, उनमेंसे सिपाहियोंद्वारा ग्रामीणोंसे अधिक-से-अधिक दूध भेजनेको कहा गया। गाँववाले वैसे ही कच्चे मनके होते हैं, ऊपरसे पुलिसवालोंका भय; बेचारोंने अपने बालबच्चोंके लिये भी दूध न छोड़ा। बछड़े चौथाई पेट ही दूध पा सके। सारा दूध घड़ोंमें भर-भरकर इन्स्पेक्टर साहबकी कोठीपर पहुँचा दिया गया।

जब श्रीझवेरचन्द्रजीको इन सारी बातोंका पता लगा, तब वे बहुत दुःखी हुए। सोचने लगे—'मनुष्य कितना स्वार्थी है, वह अपने अहंकारके आगे यह भी नहीं देखता कि वह जो कर रहा है, उसमें किसी औरका अहित तो नहीं हो रहा है; किसी गलत परम्पराका पोषण तो नहीं हो रहा है? ऐसे रीति-रिवाज और सामाजिक नियम बनाते समय उसने विवेकसे काम लिया होता तो किसीका शोषण क्यों होता? क्यों सामाजिक जीवनमें ये कुरीतियाँ जन्म लेतीं, जो आज पीढ़ियोंतक लोगोंको कष्ट दे रही हैं?'

परंतु जहाँ मनुष्य सूखी हँसी हँसनेपर उतारू हो, वहाँ इन बातोंको कौन सुने? कौन सहृदयता, सद्भावना और प्राणिमात्रके प्रति उदारताकी बात सोचे? श्रीझवेरचन्द्रजीकी व्याकुलता किसीने न समझी। सब लोग कटोरियों-पर-कटोरियाँ चढ़ाने लगे। मनमाना दूध औटाया गया था, चावल-चीनी और मेवे ऐसे डाले गये थे, मानो अपने घर इनकी मिलें चलती हों। दिखावा तो आखिर दिखावा ही है। राजाओंके घर बने-जैसी खीर बनी थी। स्वाभाविक ही था कि लोग एककी जगह दो-दो कटोरियाँ खाते।

परोसनेवालोंने देखा कि लगभग सभी लोग भोजन कर चुके हैं, किंतु झवेर अभीतक बैठा ही है, तब इन्स्पेक्टर साहबने कहा—'बेटा! तुमने खीरको हाथतक नहीं लगाया, किसीने कुछ कह दिया क्या?'

बालक झवेरकी आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। उसने व्यथित स्वरमें कहा—'पिताजी! खीर गलेसे नीचे नहीं उतरती। आपको यह सोचनेके लिये समय ही कहाँ है कि गाँवोंसे इतना दूध इकट्ठा करके लाया गया है कि वहाँ बचोंतकके लिये दूध नहीं बचा। बेचारे बछड़े आज किस स्थितिमें होंगे? इसका अनुमान होता तो सम्भवतः आपके भी गलेसे नीचे यह खीर न उतरती।'

इन्स्पेक्टर साहब अपने बच्चेकी करुणासे द्रवित हो उठे। उन्होंने ग्रामीणोंको पूरा पैसा चुकाया और भविष्यमें फिर कोई पार्टी नहीं की।

——'युग निर्माण योजना'

श्रीराम-दूतको प्रणाम

(रचयिता—श्रीश्यामनारायणजी पाण्डेय)

प्रगति, पराक्रम और पौरुषके प्रचण्ड रूप
विद्याके, कलाके मूर्त
मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य
धर्मशील, न्यायशील, शौर्यशील,
दौत्य-कर्म-मर्मशील
संस्कृतके
संस्कृतिके
ह्रस्व-दीर्घ झंकृतिके
भीतिहीन हुंकृतिके
दीप्तिमान् देवता
वायुपुत्रको प्रणाम
रामदूतको प्रणाम
आञ्जनेयको प्रणाम।
जिसने गरजते अलङ्घ्य जीव-जन्तुमय
भीषण तरंगोंसे समन्वित
अगाध जल-राशि
हिंदमहासागरके गर्वको भङ्ग किया
वारिधिको पार कर
और उस पार जा
देववन्द्य रामकी पदारविन्द-योगिनी
पीड़िता वियोगिनी
आवृता निशाचरोंसे
श्वानोंके बीच हरिणी-सी भय-विह्वला
सीताके अर्चनीय चरणोंके दर्शनसे
पावन हो,
सावन हो
ढर-ढर अश्रुके निपातसे।
असहनीय दुःखजन्य क्रोधसे प्रमत्त हो
विराट् भीमकाय हो
मूर्तिमान् पावक, प्रचण्डता-निकाय हो
नागिन-सी पूँछकी प्रचण्ड वह्नि-ज्वालसे
घूम-घूम
फूँक दिया लंकाको
झूम-झूम
घास-फूसकी तरह।
डंकेकी चोटपर गा-गाके रामकीर्ति
जल गया रावणका
स्वत्व-ज्ञान
आन-बान
स्वाभिमान
खोर-खोर बह गयी लंकाकी रत्न-राशि
उस अदम्य तेजमूर्ति
बल-स्फूर्तिके निधान
जगद्वन्द्य
हनूमान्के बलिष्ठ चरणोंमें
नमस्कार
चरणोंके रजःकणमें
नमस्कार
नमस्कार।
केलेके निकुंजमें
मदान्ध गजके समान
गर्वशील दनुजोंकी
शौर्य-शक्ति रौंदकर
खोयी हुई सीताका बताया पता राघवको
परम प्रसन्न हो कृतज्ञ हो ऋणी हो जिसे
दौड़के लगाया कण्ठ
आँखें भर रामने।
गूँजा प्रवर्षण-गिरि
बार-बार घोषसे
जय हनुमान्, जय जय हनुमान्के।
वह रामभक्त हनुमान्
जिसके स्मरणमात्रसे विपन्न मानवको
मिलती महान् शक्ति, ज्ञान, भक्ति, जग-विरक्ति
कालको निगलनेका
विघ्नको कुचलनेका
शत्रु-व्यूह दलनेका
अप्रमेय साहस, उत्साह, ओज, धीरता
उस अजेय जेताके
कपि-कुल-नेताके
वन्दनीय
वज्र-सम चरणोंमें
शत बार वन्दन
असंख्य बार वन्दन।

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ४९

[साधारण अङ्क-संख्या २ से १२ तककी विषय-सूची। विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है]

सं० २०३१-३२ वि०

सन् १९७५ ई०

की

निबन्ध, कविता और संकलित-सामग्री

तथा

चित्र-सूची

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—स्वामी रामसुखदास

प्रकाशक—मोतीलाल जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० १२.००
विदेशके लिये रु० २०.४० (११० पेंस)
साधारण अङ्क—बिना मूल्य

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

संकलित सामग्री-सूची

चित्र-सूची

रंगीन-चित्र

रेखा-चित्र

कृपालु एवं प्रेमी ग्राहकों-पाठकोंसे—

'कल्याण'के ४९वें वर्षका प्रथम अङ्क विशेषाङ्कके रूपमें 'श्रीहनुमान-अङ्क'के नामसे प्रकाशित हुआ था। इस वर्षका अन्तिम अङ्क अब आपके हाथमें है। इस वर्षमें आप महानुभावोंकी सेवामें जो कुछ प्रस्तुत किया जा सका, वह भगवान्‌की कृपा और आप सबके स्नेहका ही प्रतिफल है। 'कल्याण'के परम सम्मान्य लेखक, ग्राहक एवं पाठक महानुभावोंके कृपापूर्ण सामयिक सहयोग, स्नेह एवं सहृदयताके लिये हम उनके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं। आप सबको विदित ही है कि जनवरी १९७६ का प्रथम अङ्क 'श्रीभगवत्कृपा-अङ्क'के नामसे विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित होने जा रहा है। चारों ओरसे इस विशेषाङ्ककी अधिक प्रतियाँ छापनेके आग्रहपूर्ण पत्र आये हैं और आ रहे हैं, परंतु सीमित साधनोंके कारण यह विशेषाङ्क सीमित संख्यामें ही छप सकेगा।

इस विशेषाङ्कमें भगवान्‌की अपार-असीम कृपाशक्तिके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्य-सम्बन्धी अत्यन्त विलक्षण एवं उपादेय सामग्रीका अनूठा संकलन किया गया है। भक्त-चरित्रों, कृपापरक सत्य घटनाओं, स्तोत्रों एवं अनेक आकर्षक तिरंगे एवं इकरंगे चित्रोंसे सुसज्जित लगभग ५२८ पृष्ठोंका 'श्रीभगवत्कृपा-अङ्क' आबाल-वृद्ध—सभी पाठकोंके लिये उपयोगी होगा, ऐसा विश्वास किया जाता है।

अधिक-से-अधिक लोग इस अलभ्य सामग्रीसे लाभ उठा सकें, इस हेतु ग्राहक महोदयोंसे विनम्र प्रार्थना है कि स्वयं पढ़ लेनेके पश्चात् वे अपना अङ्क अन्य सज्जनों, वाचनालयों, पुस्तकालयों आदिको प्रदान करनेकी कृपा करें और इस प्रकार भगवच्चर्चाके प्रचार-यज्ञमें सहायक बनें।

सम्भव है, इस वर्ष हमसे कुछ ऐसी अक्षम्य त्रुटियाँ हो गयी हों, जिनकी ओर हमारा ध्यान भी न गया हो, उनके लिये हम अपने सभी सहृदय पाठक-पाठिकाओंसे करबद्ध क्षमा-याचना करते हैं। हमें विश्वास है, वे उन्हें सदाकी भाँति हमपर कृपा करते हुए 'कल्याण'के प्रति अपना स्नेह बनाये रखेंगे।

वाराहपुराणके विषयमें निवेदन

वाराहपुराणकी श्लोक-संख्या नारदादि कई पुराणोंमें २४ हजार बतायी गयी है, किंतु अभीतक ऐसा सम्पूर्ण वाराहपुराण हमारे देखनेमें नहीं आया, जिसमें श्लोकोंकी संख्या २४ हजार हो। वेंकटेश्वर प्रेसद्वारा प्रकाशित वाराहपुराणमें २१८ अध्यायोंकी सूची है, पर श्लोक-संख्या लगभग दस हजार होनेसे यह संस्करण भी अपूर्ण है, ऐसा स्वयं उसके प्रकाशकोंने लिखा है। बंगालकी 'एशियाटिक सोसायटी'के संस्करणमें भी साढ़े दस हजार श्लोक हैं। अतः 'कल्याण'के सहृदय पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि यदि उनकी जानकारीमें श्रीमद्भगवद्गीता-माहात्म्य, त्रिमास-माहात्म्य, [illegible]-माहात्म्य, मृत्तिका-शौच-विधान आदि विषयोंसे संयुक्त सम्पूर्ण वाराहपुराणकी मुद्रित अथवा हस्तलिखित प्रति कहीं मिल सकनेकी सम्भावना हो तो वे हमें पत्रद्वारा सूचित करनेकी कृपा करें। उपलब्ध मुद्रित अथवा हस्तलिखित (वाराहपुराणकी) प्रतिकी भाषा, टीका, अनुवादक, प्रकाशक, मुद्रक आदिके नाम-पतासहित पूरा विवरण भेजना अपेक्षित है।

—सम्पादक

ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें

कृपालु ग्राहकोंसे विनम्र निवेदन है कि वे हर प्रकारका पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्याके अभावमें पत्रोंपर उचित कार्यवाही करने अथवा उनका उत्तर देनेमें विलम्ब हो सकता है और अनेक पत्रोंके अनुत्तरित रह जानेकी आशङ्का रहती है।

'कल्याण'का वार्षिक शुल्क भेजते समय भी मनीआर्डर-कूपनपर अपने नाम-पतेके साथ-साथ अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; यदि किसी कारणवश ग्राहक-संख्या न लिखी जा सके तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' ही लिख दें। ऐसा करनेसे आप अपने अङ्क समयपर प्राप्त कर सकते हैं। नये ग्राहक हों तो मनीआर्डर-कूपनपर 'नया ग्राहक' लिखें। ग्राहक-संख्या 'कल्याण'के रैपरपर आपके नाम-पतेके साथ ही छपी रहती है।

—व्यवस्थापक, कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

दुःखोंसे छूटनेके उपाय

ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता। विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः। प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
वासयन्त्यतिथीन् नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः। नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
मातापित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः। वर्जयन्ति दिवा स्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते। प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः। येषामर्थाश्च सम्बद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः। ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्। मान्यमानान् नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
ये क्रोधं संनियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च। न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम्। भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥

(महाभारत, शान्तिपर्व ११० । ३–६, ११-१२, १७, १९, २१, २४)

'जो दम्भयुक्त आचरण नहीं करते, जिनकी जीविका नियमानुकूल चलती है और जो विषयोंके लिये बढ़ती हुई इच्छाको रोकते हैं, वे दुःखोंको लाँघ जाते हैं। जो दूसरोंके कटु वचन सुनाने या निन्दा करनेपर भी स्वयं उन्हें उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसीको मारते नहीं; स्वयं देते हैं, परंतु दूसरोंसे माँगते नहीं, वे भी दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं। जो प्रतिदिन अतिथियोंको अपने घरमें सत्कारपूर्वक ठहराते हैं, कभी किसीके दोष नहीं देखते तथा नित्य नियम-पूर्वक वेदादि सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते रहते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं। जो धर्मज्ञ पुरुष सदा माता-पिताकी सेवामें लगे रहते हैं और दिनमें कभी सोते नहीं, वे सभी दुःखोंसे छूट जाते हैं। जो लोग प्राण जानेका अवसर उपस्थित होनेपर भी सत्य बोलना नहीं छोड़ते, वे सम्पूर्ण प्राणियोंके विश्वासपात्र बने रहकर सभी दुःखोंसे पार हो जाते हैं। जिनके शुभ कर्म दिखावेके लिये नहीं होते, जो सदा मीठे वचन बोलते हैं और जिनका धन सत्कर्मोंके लिये बँधा हुआ है, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं। जो दूसरोंकी सम्पत्तिसे ईर्ष्यावश जलते नहीं हैं और ग्राम्य विषय-भोगसे निवृत्त हो गये हैं, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ साधु पुरुष दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं। जो दूसरोंसे सम्मान नहीं चाहते, जो स्वयं ही दूसरोंको सम्मान देते हैं और सम्माननीय पुरुषोंको नमस्कार करते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटोंसे पार हो जाते हैं। जो क्रोधको काबूमें रखते हैं, क्रोधी मनुष्योंको शान्त करते हैं और स्वयं किसी भी प्राणीपर कुपित नहीं होते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटोंसे पार हो जाते हैं। जो समस्त प्राणियोंके स्वामी तथा जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके हेतुभूत भगवान् नारायणमें भक्तिभाव रखते हैं, वे दुस्तर दुःखोंसे तर जाते हैं।'